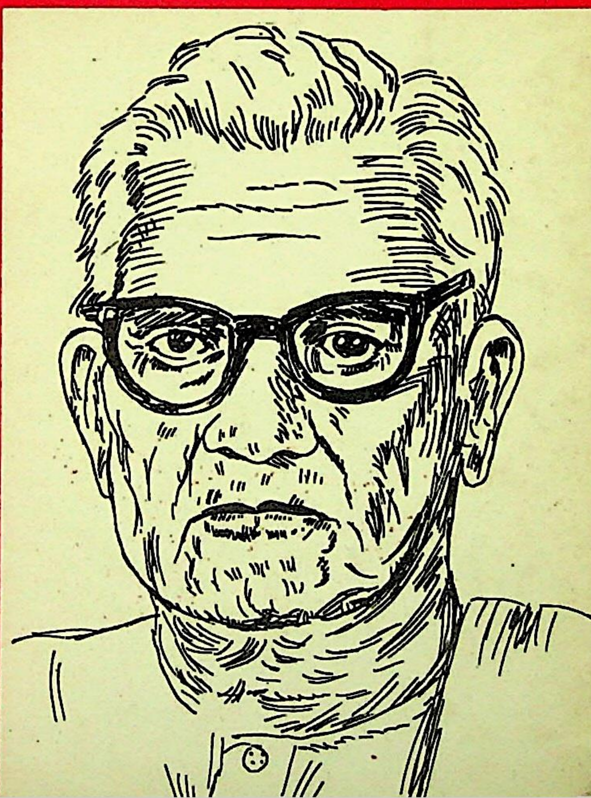
उदयशंकर भट्ट

गिरीश रस्तोगी



भारतीय साहित्य के निर्माता

उदयशंकर भट्ट

The sculpture reproduced on the endpaper depicts a scene where three soothsayers are interpreting to King Suddhodana the dream of Queen Maya, mother of Lord Buddha. Below them is seated a scribe recording the interpretation. This is perhaps the earliest available pictorial record of the art of writing in India.

From : Nagarjunakonda, 2nd century A.D.

Courtesy : National Museum, New Delhi.

(भारतीय साहित्य के निर्माता)

उदयशंकर भट्ट

लेखक

गिरीश रस्तोगी

साहित्य अकादेमी

Uday Shanker Bhatt : A monograph in Hindi on Hindi poet by Girish Rastogi, Sahitya Akademi, New Delhi (1998) Rs. 25.

प्रथम संस्करण : 1998

साहित्य अकादेमी

मुख्य कार्यालय
रवीन्द्र भवन, फ़ीरोज़शाह रोड़, नयी दिल्ली 110 001
विक्रय विभाग : स्वाति, मन्दिर मार्ग, नयी दिल्ली 110 001

क्षेत्रीय कार्यालय
जीवन तारा बिल्डिंग, चौथी मंजिल, 23 ए/44 एक्स,
डायमंड हार्बर मार्ग, कलकत्ता 700053
गुना बिल्डिंग, दूसरी मंजिल, 304-305, अन्ना सलाई, तेनामपेट,
चेन्नई 600018
172, मुम्बई मराठी ग्रंथ संग्रहालय मार्ग, दादर, मुम्बई 400014
ए डी ए रंगमन्दिर, 109, जे० सी० मार्ग, बैंगलोर 560002

मूल्य : पच्चीस रुपये

ISBN 81-260-430-4

अक्षर संयोजक : कनिका प्रिन्टर्स, लक्ष्मी नगर, दिल्ली-110 032

मुद्रक : अजित प्रिन्टर्स, दिल्ली

अनुक्रम

1

समय और चेतना

उदयशंकर भट्ट ऐसे समय में हुए जब सम्पूर्ण भारतीय जन-मानस और भारतीय लेखकों की राष्ट्रीय और सांस्कृतिक चिंतायें घनीभूत थीं और अपने-अपने ढंग से व्यक्त हो रही थीं। उनके साहित्य के साथ एक लम्बा वैविध्यपूर्ण, उथल-पुथल का अत्यन्त गतिशील काल जुड़ा है। साहित्य इतिहास में जिसे "छायावाद" कहा गया है, वह राजनैतिक, सामाजिक क्रान्ति के साथ-साथ सांस्कृतिक पुनर्जागरण और साहित्यिक परिवर्तनों का महत्वपूर्ण युग है। उदयशंकर भट्ट उस "स्वच्छन्द धारा" के कवि है जो छायावाद से अलग उन विशेष कवियों की धारा है, जो छायावाद की वैयक्तिकता, अमूर्तता, रहस्यवादी प्रवृत्ति और नैराश्य से अलग अपने-अपने व्यक्तित्व और दृष्टिकोण के साथ रचना कर रहे थे। उनके काव्य में छायावाद की विशेषतायें और सौन्दर्य भी था, पर उनका मौलिक व्यक्तित्व भी था। भारतीय आत्मा के रूप में प्रसिद्ध माखनलाल चतुर्वेदी, सियारामशरण गुप्त, बालकृष्ण शर्मा नवीन, सुभद्राकुमारी चौहान, रामधारी सिंह दिनकर इस "स्वच्छन्द धारा" के महत्वपूर्ण कवि थे जिनकी रचनाओं में राष्ट्रीय चेतना, उद्‌बोधन का प्रेरक स्वर सम्पूर्ण प्रखरता और भावात्मकता के साथ व्यक्त हो रहा था। स्वतन्त्रता-आन्दोलन में सक्रिय भागीदारी के कारण एक भिन्न प्रकार की मस्ती, फक्कड़पन, आवेग काव्य में उभर रहा था। दूसरी ओर हरिवंशराय बच्चन की "मधुशाला", "निशा निमंत्रण" जैसी रचनाओं में नरेन्द्र शर्मा और रामेश्वर शुक्ल अंचल की रचनाओं में नये जीवन की कल्पनायें, भाव-स्वप्न, प्रणय का उद्‌दाम रूप भी व्यक्त हो रहा था और ठाकुर गुरुभक्त सिंह का प्रसिद्ध प्रबंध काव्य "नूरजहाँ" भी नयी संवदेना के साथ प्रकाश में आया था। भाषा की नयी चमक, शैली, शिल्प के प्रयोग, आधुनिक चेतना का समन्वय और राष्ट्रीय आन्दोलन से जुड़ा समग्र वातावरण

"स्वच्छन्दधारा" के कवियों में उपलब्ध होता है। उदयशंकर भट्ट इसी धारा के प्रखर, भावात्मक, संघर्षशील रचनाकार हैं। माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने स्वतन्त्रता-संग्राम में सीधे कूदकर दासता से मुक्ति का आह्वान किया, रामनरेश त्रिपाठी, दिनकर, उदयशंकर भट्ट ने उस युग की राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना को गतिमान रखने में बहुत बड़ा योगदान दिया।

उदयशंकर भट्ट का रचना-काल (1917-1966) स्वतन्त्रता-पूर्व के भारतवर्ष, स्वतन्त्र होते हुए भारत और स्वातन्त्र्योत्तर भारत के बदलाव, स्थितियों और मोड़ों से जुड़ा है। ब्रिटिश साम्राज्यवादी सत्ता का प्रभाव, सदियों से दासता ग्रस्त भारतीय जनमानस की त्रासदी उस युग की सबसे क्रूर, भयावह सच्चाई थी। स्वाधीनता की तीव्र भावना और उसके लिए संघर्ष की प्रखरता भारतीयों में प्रबल हो रही थी। इस राष्ट्रीय चेतना को ध्वंस करने के अमानवीय प्रयास ब्रिटिश सरकार की दमन नीतियों में निरन्तर दिखायी दे रहे थे। रोलैट एक्ट का निर्माण उसी दमन का एक रूप था, जिसने कांग्रेस के नेतृत्व और संघर्ष को इतना तेज किया कि उसकी परिणति 1930 के सविनय अवज्ञा आन्दोलन के रूप में हुई। अवज्ञा आन्दोलन की असफलता, जलियाँवाला कांड, भगत सिंह को मृत्युदंड आदि ऐसी घटनायें थीं जिनसे युवा-मन इतना आन्दोलित था कि उन भीषण असफलताओं और दमन के बीच भी नमक कानून भंग जैसा बड़ा जनान्दोलन, गाँधीवादी विचारधारा, अहिंसा सिद्धान्त और मानवतावाद सबको प्रभावित भी कर रहा था और युवा-मन में असन्तोष और प्रतिक्रिया को भी जन्म दे रहा था। जाहिर है कि इन राष्ट्रव्यापी परिस्थितियों का प्रभाव साहित्यकारों पर बहुत ज्यादा था। राष्ट्रीय-सांस्कृतिक पुनर्जागरण के लिए साहित्यकार का मुख्य लक्ष्य था नैतिकता, राष्ट्रप्रेम, चारित्रिक उत्थान, राष्ट्रीय हित और आदर्श सबकी रक्षा के लिए अतीत का गौरव गान। साहित्यकारों के सामने मूल प्रश्न था भारतीय मानस की उस निष्ठा, उस दायित्वबोध को जागृत करना। भारतीय जनता की हीन ग्रन्थि को, निकाल फेंकने का काम निराला ने "जागो, फिर एक बार" रचना से किया, फिर "तुलसीदास" से। प्रसाद अपने नाटकों से यही मुख्य कार्य कर रहे थे। इन साहित्यकारों के सामने मुख्य प्रश्न था मानव जाति के जीवन का, व्यापक मानवीय स्तर पर मूल्यों की अभिव्यक्ति का। देश की राजनैतिक स्वाधीनता से अधिक "मनुष्य की स्वाधीनता" को बचाने का दायित्व साहित्यकारों के बीच था। इस समय साहित्यकार धार्मिक, ऐतिहासिक, पौराणिक और सांस्कृतिक परम्पराओं को छोड़ने में नहीं, उनमें अपनी जड़ों, अपने स्वाभिमान को तलाशने की आकुलता से भरा था। नैराश्य, आलस्य, उदासीनता के कुहासे से बाहर निकालने की छटपटाहट पूरे भारतीय साहित्य में दिखायी देती थी। यह बेचैनी,

यह चेतनता उदयशंकर भट्ट के साहित्य में बराबर मिलती है। लेकिन इस युग के सभी साहित्यकारों के स्वर में प्राचीन आध्यात्मिक परम्पराओं की एकान्तिकता नहीं थी। उस "एकान्तिक साधना" को "सामूहिक दृष्टि", "लोकोन्मुखी प्रवृत्ति" और सांस्कृतिक पुनर्जागरण तक लाना इस धारा के कवियों का बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य था जिसके पीछे ओज, पौरुष, उमंग, उत्कट ललक, देश-प्रेम, और जनसामान्य तक कविता और नाटक को पहुँचाने की तीव्र भावना थी। इन रचनाकारों के सामने काव्य का सूक्ष्म सौन्दर्य (छायावाद जैसी विशिष्टता) उतना महत्त्वपूर्ण नहीं था जितनी राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना।

ब्रिटिश दासता का यह युग अंग्रेज़ी शिक्षा, आधुनिक चेतना और वैज्ञानिक विकास का युग था। पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली, अंग्रेज़ी शिक्षा, पश्चिमी भौतिकतावादी संस्कृति ने भारतीयों के मन को जकड़ रखा था, हीनग्रन्थि से ग्रस्त, पश्चिमी संस्कृति से चमत्कृत जनता साम्राज्यवादी सत्ता की पूरी तरह शिकार थी। वैज्ञानिक आविष्कारों के साथ यातायात, संचारसाधन, नयी शिक्षा-पद्धति समूची जीवन-पद्धति और संस्कृति को प्रभावित कर रही थी। साहित्यकारों की मूल चिंता यह थी कि यह आधुनिकीकरण भारतीय जीवन की अन्तरचेतना से नहीं जन्म ले रहा है बल्कि बाहरी रूप में पनपने के कारण हीनता की भावना और भय-आतंक को बढ़ावा दे रहा है। ऐसे में भारतीय चिंतकों और साहित्यिकों की मूल चिंता जनता की प्रसुप्त चेतना को, उत्साह को जगाना था। एक ओर राजनैतिक दासता से वह आन्दोलित थे दूसरी ओर सांस्कृतिक आक्रमण की चिंता भी उन्हें उद्वेलित किये हुए थी। सांस्कृतिक, सामाजिक स्तर पर इस स्थिति के विरूद्ध पूरी शक्ति से एक ओर आन्दोलन कर रहे थे – राजा राममोहनराय, दयानन्द सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द तो राजनैतिक स्तर पर विरोध कर रहे थे बाल गंगाधर तिलक और महात्मा गाँधी। सबको देश के आदर्शों, मूल्यों को बचाने की चिंता भी थी और बदलती हुई नयी दृष्टि के अनुसार पूराने मूल्यों को ढालने की भी। हम जानते हैं कि उस समय तक खड़ी बोली हिन्दी काव्य और गद्य दोनों में प्रतिष्ठित हो चुकी थी। भाषा-आन्दोलन और राष्ट्रभाषा का आन्दोलन भी पूरी तरह उठ चुका था। भाषा और नयी जीवन-दृष्टि का आरम्भ तो भारतेन्दु युग के गद्य-साहित्य में ही हो गया था। आधुनिक जीवन चेतना, सामंतीय संस्कारों के टूटने के संकेत, मध्यवर्गीय समाज का यथार्थ चित्रण और रचना में आने वाले सभी परिवर्तन नजर आने वाले थे। राष्ट्रीय-सांस्कृतिक जागरण और लोकचेतना का संदेश भी नाटक साहित्य में शक्ति बनकर उभर रहा था। भाषा और जीवन के साथ साहित्य विशेषकर नाटक का ऐसा अन्तरंग, सघन रिश्ता हिन्दी में आज भी नहीं मिलता। साहित्य की विभिन्न

"स्वच्छन्दधारा" के कवियों में उपलब्ध होता है। उदयशंकर भट्ट इसी धारा के प्रखर, भावात्मक, संघर्षशील रचनाकार हैं। माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने स्वतन्त्रता-संग्राम में सीधे कूदकर दासता से मुक्ति का आह्वान किया, रामनरेश त्रिपाठी, दिनकर, उदयशंकर भट्ट ने उस युग की राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना को गतिमान रखने में बहुत बड़ा योगदान दिया।

उदयशंकर भट्ट का रचना-काल (1917-1966) स्वतन्त्रता-पूर्व के भारतवर्ष, स्वतन्त्र होते हुए भारत और स्वातन्त्र्योत्तर भारत के बदलाव, स्थितियों और मोड़ों से जुड़ा है। ब्रिटिश साम्राज्यवादी सत्ता का प्रभाव, सदियों से दासता ग्रस्त भारतीय जनमानस की त्रासदी उस युग की सबसे क्रूर, भयावह सच्चाई थी। स्वाधीनता की तीव्र भावना और उसके लिए संघर्ष की प्रखरता भारतीयों में प्रबल हो रही थी। इस राष्ट्रीय चेतना को ध्वंस करने के अमानवीय प्रयास ब्रिटिश सरकार की दमन नीतियों में निरन्तर दिखायी दे रहे थे। रोलैट एक्ट का निर्माण उसी दमन का एक रूप था जिसने कांग्रेस के नेतृत्व और संघर्ष को इतना तेज किया कि उसकी परिणति 1930 के सविनय अवज्ञा आन्दोलन के रूप में हुई। अवज्ञा आन्दोलन की असफलता, जलियाँवाला कांड, भगत सिंह को मृत्युदंड आदि ऐसी घटनायें थीं जिनसे युवा-मन इतना आन्दोलित था कि उन भीषण असफलताओं और दमन के बीच भी नमक कानून भंग जैसा बड़ा जनान्दोलन, गाँधीवादी विचारधारा, अहिंसा सिद्धान्त और मानवतावाद सबको प्रभावित भी कर रहा था और युवा-मन में असन्तोष और प्रतिक्रिया को भी जन्म दे रहा था। जाहिर है कि इन राष्ट्रव्यापी परिस्थितियों का प्रभाव साहित्यकारों पर बहुत ज्यादा था। राष्ट्रीय-सांस्कृतिक पुनर्जागरण के लिए साहित्यकार का मुख्य लक्ष्य था नैतिकता, राष्ट्रप्रेम, चारित्रिक उत्थान, राष्ट्रीय हित और आदर्श सबकी रक्षा के लिए अतीत का गौरव गान। साहित्यकारों के सामने मूल प्रश्न था भारतीय मानस की उस निष्ठा, उस दायित्वबोध को जागृत करना। भारतीय जनता की हीन ग्रन्थि को, निकाल फेंकने का काम निराला ने "जागो, फिर एक बार" रचना से किया, फिर "तुलसीदास" से। प्रसाद अपने नाटकों से यही मुख्य कार्य कर रहे थे। इन साहित्यकारों के सामने मुख्य प्रश्न था मानव जाति के जीवन का, व्यापक मानवीय स्तर पर मूल्यों की अभिव्यक्ति का। देश की राजनैतिक स्वाधीनता से अधिक "मनुष्य की स्वाधीनता" को बचाने का दायित्व साहित्यकारों के बीच था। इस समय साहित्यकार धार्मिक, ऐतिहासिक, पौराणिक और सांस्कृतिक परम्पराओं को छोड़ने में नहीं, उनमें अपनी जड़ों, अपने स्वाभिमान को तलाशने की आकुलता से भरा था। नैराश्य, आलस्य, उदासीनता के कुहासे से बाहर निकालने की छटपटाहट पूरे भारतीय साहित्य में दिखायी देती थी। यह बेचैनी,

यह चेतनता उदयशंकर भट्ट के साहित्य में बराबर मिलती है। लेकिन इस युग के सभी साहित्यकारों के स्वर में प्राचीन आध्यात्मिक परम्पराओं की एकान्तिकता नहीं थी। उस "एकान्तिक साधना" को "सामूहिक दृष्टि", "लोकोन्मुखी प्रवृत्ति" और सांस्कृतिक पुनर्जागरण तक लाना इस धारा के कवियों का बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य था जिसके पीछे ओज, पौरुष, उमंग, उत्कट ललक, देश-प्रेम, और जनसामान्य तक कविता और नाटक को पहुँचाने की तीव्र भावना थी। इन रचनाकारों के सामने काव्य का सूक्षम सौन्दर्य (छायावाद जैसी विशिष्टता) उतना महत्त्वपूर्ण नहीं था जितनी राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना।

ब्रिटिश दासता का यह युग अंग्रेज़ी शिक्षा, आधुनिक चेतना और वैज्ञानिक विकास का युग था। पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली, अंग्रेज़ी शिक्षा, पश्चिमी भौतिकतावादी संस्कृति ने भारतीयों के मन को जकड़ रखा था, हीनग्रन्थि से ग्रस्त, पश्चिमी संस्कृति से चमत्कृत जनता साम्राज्यवादी सत्ता की पूरी तरह शिकार थी। वैज्ञानिक आविष्कारों के साथ यातायात, संचारसाधन, नयी शिक्षा-पद्धति समूची जीवन-पद्धति और संस्कृति को प्रभावित कर रही थी। साहित्यकारों की मूल चिंता यह थी कि यह आधुनिकीकरण भारतीय जीवन की अन्तरचेतना से नहीं जन्म ले रहा है बल्कि बाहरी रूप में पनपने के कारण हीनता की भावना और भय-आतंक को बढ़ावा दे रहा है। ऐसे में भारतीय चिंतकों और साहित्यिकों की मूल चिंता जनता की प्रसुप्त चेतना को, उत्साह को जगाना था। एक ओर राजनैतिक दासता से वह आन्दोलित थे दूसरी ओर सांस्कृतिक आक्रमण की चिंता भी उन्हें उद्वेलित किये हुए थी। सांस्कृतिक, सामाजिक स्तर पर इस स्थिति के विरूद्ध पूरी शक्ति से एक ओर आन्दोलन कर रहे थे — राजा राममोहनराय, दयानन्द सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द तो राजनैतिक स्तर पर विरोध कर रहे थे बाल गंगाधर तिलक और महात्मा गाँधी। सबको देश के आदर्शों, मूल्यों को बचाने की चिंता भी थी और बदलती हुई नयी दृष्टि के अनुसार पूराने मूल्यों को ढालने की भी। हम जानते हैं कि उस समय तक खड़ी बोली हिन्दी काव्य और गद्य दोनों में प्रतिष्ठित हो चुकी थी। भाषा-आन्दोलन और राष्ट्रभाषा का आन्दोलन भी पूरी तरह उठ चुका था। भाषा और नयी जीवन-दृष्टि का आरम्भ तो भारतेन्दु युग के गद्य-साहित्य में ही हो गया था। आधुनिक जीवन चेतना, सामंतीय संस्कारों के टूटने के संकेत, मध्यवर्गीय समाज का यथार्थ चित्रण और रचना में आने वाले सभी परिवर्तन नजर आने वाले थे। राष्ट्रीय-सांस्कृतिक जागरण और लोकचेतना का संदेश भी नाटक साहित्य में शक्ति बनकर उभर रहा था। भाषा और जीवन के साथ साहित्य विशेषकर नाटक का ऐसा अन्तरंग, सघन रिश्ता हिन्दी में आज भी नहीं मिलता। साहित्य की विभिन्न

विधाओं का जन्म, भाषा-प्रचार, पत्र-पत्रिकाओं और रंगमंच की जन-जागरण में भूमिका भारतेन्दुयगीन चेतना के अनिवार्य अंग थे। द्विवेदी युग भी राष्ट्रीय-सांस्कृतिक जागरण का, सुधारवादी चेतना का युग था। उस समय भी जहाँ साहित्य के प्राचीन मूल्य, परम्परायें टूटीं, शास्त्रीयता का ढाँचा टूटा, वहीं एक ओर काव्य की विभिन्न शैलियों का विकास हुआ, अनेक संस्थाओं का गठन और भाषा की सजगता बढ़ी। छायावाद काल में भी राष्ट्रीय चेतना और सांस्कृतिक पुनर्जागरण की यह धारा समाप्त नहीं हुई थी। छायावाद युग को भारत की अस्मिता की खोज का युग कहा भी गया है। अंग्रेजी और बङ्गला साहित्य की व्यक्तिवादी चेतना के प्रभाव से छायावाद यद्यपि एक ही प्रकार की सीमित दृष्टि का एकांगी काल लगा लेकिन प्रसाद और निराला के काव्य और छायावाद-काल के गद्य-साहित्य में आन्तरिक संघर्ष, विद्रोह, क्रान्ति और सामाजिकता, मानवीय संवदेना भी दिखायी दी बल्कि उसी कारण आगे आने वाले प्रगतिवादी और प्रयोगवादी आन्दोलन की संभावनायें, नयी कविता और नयी कहानी की संभावनायें, नवगीत के संकेत इसी काल में मिलने लगे। 1918 में ही प्रेमचन्द का "सेवा सदन" आ गया था। कविता से अधिक परिवर्तन की स्पष्ट छाप गद्य साहित्य में दिखायी दी। विशेषकर सामाजिक राजनैतिक परिवर्तन की छाप कविता में उतनी नहीं मिलती जितनी गद्य में। गद्य की विभिन्न विधायें, समाजोन्मुख, यथार्थोन्मुख हुईं। 1927-1938 के बीच लक्ष्मी नारायण मिश्र का समस्या नाटक आन्दोलन छिड़ा। नारी समस्या, नारी-स्वातन्त्र्य आन्दोलन, स्त्री का नया रूप, प्रेम विवाह, नैतिकता-अनैतिकता के सवाल, स्त्री-पुरुष सम्बन्ध साहित्य की सभी विधाओं में व्यक्त होने लगे। स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति और बौद्धिकता, इब्सन और बर्नार्ड शा के यथार्थवाद, अनेक नये प्रयोग नई प्रवृत्तियाँ आ गयीं। हिन्दी में नाट्यकला और रंगमंच का भले ही बहुत सुनिश्चित स्वरूप-निर्धारण न हुआ हो पर नाटककार यथार्थ के निकट अवश्य आये। 1930 से पश्चिमी पद्धति पर एकांकी का भी आगमन हुआ। 1938 से स्वयं उदयशंकर भट्ट ने "आधुनिक एकांकी नाटक" शीर्षक से संकलन निकाला था जिसमें "राजपूत की हार" (सुदर्शन), "दस मिनट" (रामकुमार वर्मा), "स्ट्राइक" (भुवनेश्वर), "लक्ष्मी का स्वागत" (उपेन्द्रनाथ अश्क), "सबसे बड़ा आदमी" (भगवती चरण वर्मा), "दीबू" (धर्मप्रकाश आनन्द) और "दस हजार" (उदयशंकर भट्ट) एकांकी हैं। यह उस युग में एकांकी की लोकप्रियता का प्रमाण है। इस काल में कथा साहित्य के क्षेत्र में प्रेमचन्द नये आयाम प्रस्तुत कर रहे थे। दहेज, अशिक्षा, विधवा विवाह, साम्प्रदायिकता, अछूत, किसान, आर्थिक संकट, गाँधीवाद और मानवतावादी दृष्टि सब कुछ उपन्यास-कहानी में चित्रित हो रहे थे। आंचलिकता और दलित वर्ग चेतना, समाज का नग्न यथार्थ, उपन्यासों में चर्चा का विषय बना

हुआ था। जैनेन्द्र के "परख" (1929), "सुनीता" (1835), "त्यागपत्र" (1937), मनोविश्लेषण द्वारा मनोवैज्ञानिक यथार्थ का, व्यक्ति-मन का चित्रण कर रहे थे। इतिहास, निबन्ध और आलोचना के क्षेत्र में बाबू श्याम सुन्दर दास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे विद्वानों ने हिन्दी भाषा और साहित्य को, शोध को, इतिहास-दृष्टि को नये और व्यापक आयाम दिये।

वस्तुतः उदयशंकर भट्ट छायावाद काल की "स्वच्छन्दधारा" के कवि हैं पर उनका सम्पूर्ण गद्य साहित्य विशेषकर उनका नाट्य साहित्य उनके निबन्ध, उनके उपन्यास, यह सिद्ध करते हैं कि उनके साथ एक लम्बा गत्यात्मक, परिवर्तनशील समय सम्बद्ध है। छायावादी काव्य की प्रतिक्रिया में छायावादोत्तर साहित्य में जो नयी प्रवृत्तियाँ उभर रही थीं, जो अपने युग की विषमताओं-आकांक्षाओं के लिए साहित्यकारों में एक छटपटाहट थी, एक अन्वेषण-दृष्टि थी और जिसे राष्ट्रीय-सांस्कृतिक धारा कहा गया, भट्ट जी उसके प्रतिनिधि रचनाकार थे। निश्चय ही यह धारा भारतेन्दु युग से ही चली आ रही थी लेकिन धीरे-धीरे उसमें "राष्ट्रीयता" और "सांस्कृतिक जागरण" का प्रश्न अधिक प्रखर, अधिक सार्वजनीक होता गया है और अधिक संवदेनात्मक भी, विशेषकर द्विवेदी युग के बाद। द्विवेदी युग में "हिन्दु राष्ट्रवाद" की कल्पना अधिक थी, "भारतीय राष्ट्रीयता" की उतनी नहीं। गाँधी जी के व्यक्तित्व के प्रभाव के कारण राष्ट्र और संस्कृति के साथ भारतीय दृष्टि का विकास हुआ। एक भिन्न प्रकार की नवीन, अधिक व्यापक अर्थ में राष्ट्रीय चेतना उभरी जिसमें लोग प्रान्तीयता से ऊपर उठकर सोचने लगे और भावात्मक स्तर पर राष्ट्रीय एकता का अनुभव करने लगे। हिन्दी इस समय तक देश का प्रतिनिधित्व करने वाली महत्वपूर्ण भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी थी— निरन्तर अनुवादों का क्रम चला ही आ रहा था— इस समय राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से भारतीय भाषाओं के लेखकों में भी अपनी श्रेष्ठ कृतियों के हिन्दी में अनुवाद के प्रति आकांक्षा दिखायी देती है। उस समय की अनेक कृतियों के अनुवादों में इसी भावना को देखा जा सकता है। राजनीतिक हलचल के उस युग में "भारतीयता" का यह सांस्कृतिक उदय साहित्य को भी प्रभावित कर रहा था। वैयक्तिक दृष्टि और अस्मिता के स्थान पर सामूहिक चेतना और मनुष्यता की भावभूमि विकसित हो रही थी। गुजराती के महाकवि "हानालाल" द्वारा रचित "प्रेमकुंज" का हिन्दी अनुवाद करने वाले गिरधर शर्मा ने उसकी भूमिका में लिखा— "अस्मिता ऐसी न बढ़ जानी चाहिए कि भारतीयता को और मनुष्यता को भुला दे। हम भारतीय हैं— हम मनुष्य हैं यह एक ऐसा सत्य है कि इस पर प्रान्तीयता को विशेष महत्व नहीं दिया जा सकता।" इस समय तक वैज्ञानिक विकास से भी विश्व के विभिन्न राष्ट्र और देश की विभिन्न भाषायें और साहित्य एक दूसरे के निकट आते रहे थे, आदान-प्रदान बढ़ रहा था। अंग्रेज़ी शिक्षा,

पाश्चात्य प्रभावों ने भी एक प्रकार की क्रान्ति पैदा की वैचारिक धरातल और मान्यताओं में। हिन्दी साहित्यकार भी भारतीय और यूरोपीय साहित्य के और निकट सम्पर्क में आये विशेष रूप से बर्नार्ड शॉ और गाल्सवर्दी ने सभी को प्रभावित किया। लोगों के मन में इस बात का तीव्र आग्रह पैदा हुआ कि विश्व के अधिक से अधिक विचारकों और रचनाओं के चिंतन और साहित्य को लोग जानें और समझें और वह साहित्य हिन्दी पाठकों के सामने आये। उस समय "इन्दु" तथा अन्य पत्रिकाओं में अगर जार्ज बर्नार्ड शॉ पर लेख प्रकाशित हुए थे तो उनके साथ यह इच्छा भी व्यक्त की गयी थी कि हिन्दी के पाठक इन लेखों को अवश्य पढ़ें। जॉर्ज गाल्सवर्दी के नाटक की अनुवाद योजना के पीछे भी दृष्टि यही थी कि इनको हिन्दुस्तानी भाषा में देखकर हमारे देश में भी वैसे ही नाटककार बनें। भारत की विभिन्न भाषाओं और विश्व भाषाओं के महान साहित्य से सम्पर्क बढ़ने पर मौलिक विचार, कथ्य और शिल्प उपलब्ध हुआ और नवीन दिशाओं में बढ़ने की प्रेरणा मिली। मानसिक और बौद्धिक विकास की इस स्थिति ने हिन्दी भाषा और साहित्य के विभिन्न नवीन प्रवृत्तियों और अभिव्यक्ति के माध्यमों की ओर मोड़ा। नाट्यकला सम्बन्धी मान्यताओं में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। मोलियर और द्विजेन्द्र लाल राय के नाटकों एकांकियों के अनुवादों ने प्रतिक्रियात्मक, हलचल भरा रचनात्मक वातावरण पैदा किया। लेखकों को नाट्यलेखन की नवीन दृष्टि मिली।

उदयशंकर भट्ट 1966 तक रचना करते रहे। छायावाद और छायावादोत्तर काल के विभिन्न उतार-चढ़ाव के बीच वह सजग रचनाकार रहे। प्रगतिवाद (1936), प्रयोगवाद (1946) और फिर तारसप्तक, नयी कविता, नयी कहानी, नवनाट्यान्दोलन और रंगान्दोलन कई विकास क्रम आये और उदयशंकर भट्ट अपनी प्रतिक्रियायें अपनी रचनाओं के माध्यम से बराबर देते रहे। छायावाद की व्यक्तिवादी चेतना और नैराश्य के विरोध में और भारतीय समाज में उभरते हुए जन-संघर्ष और देश की अत्यन्त विषम परिस्थितियों में सामाजिक चेतना को लेकर प्रगतिवाद का उदय एक आधार के रूप में हुआ। सम्पूर्ण राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में मार्क्सवादी दर्शन से प्रभावित प्रगतिवाद एक नयी चेतना, नया भावबोध लेकर आया। रूस में साम्यवाद पूंजीवाद के विरुद्ध सर्वहारा वर्ग को, जन-शक्ति को स्थापित कर रहा था। भारत में भी एक ओर युवा वर्ग गाँधी के स्वाधीनता आन्दोलन, अहिंसावादी सिद्धान्त से बुरी तरह आक्रोश में था, उग्र मनः स्थिति में था, दूसरी ओर 1934 में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के जन्म के बाद स्वयं कुछ कांग्रेसी भी अहिंसा आन्दोलन के प्रति घोर प्रतिक्रियावादी थे। इसी के साथ मजदूर आन्दोलन, राजनीति में वामपंथी शाक्तियों का बढ़ना नवीन परिस्थितियों को जन्म दे रही थी। राजनीतिक दासता के उस युग से समूचे

भारत ने महसूस किया एक ओर शोषक के राजनीतिक प्रश्रय को, तो दूसरी ओर सामान्य जन जीवन में फैली गरीबी, हीनता, अशिक्षा को। इसी बीच विश्व के नक्शे पर दो भयावह घटनायें हुयीं– एक द्वितीय महायुद्ध और दूसरे बंगाल का भीषण अकाल। इन दो घटनाओं से देश ग्रस्त था और जनता बुरी तरह आक्रान्त। पश्चिम में भी समाजवादी आन्दोलन चारों ओर फैलने लगा था। पेरिस में "प्रोग्रेसिव राइटर्स एसोसियेशन" नामक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था का प्रथम अधिवेशन फिर भारत में भी 1936 में सज्जाद जहीर और डा. मुल्कराज आनन्द के प्रयत्नों से इस संस्था का गठन और लखनऊ में प्रेमचन्द की अध्यक्षता में उसका प्रथम अधिवेशन भारतीय जीवन, कला, संस्कृति को प्रभावित करने वाली ऐतिहासिक घटनायें थीं। प्रगतिवाद ने समग्र साहित्य और कथाओं को, नयी जीवन दृष्टि, उत्साह, नयी जीवन-शक्तियों से सम्पन्न सामाजिक यथार्थ दिया। जीवन में वर्ग-भेद, मनुष्य, व्यवस्था को भिन्न दृष्टि से देखने की चेतनता देकर प्रगतिवाद ने सौन्दर्य को जन जीवन, संघर्ष और समस्याओं में देखा और साहित्य की सोद्देश्यता, भाषा और शिल्प की सरलता को महत्त्व दिया। रचना का कोई लक्ष्य होना चाहिए इस संदर्भ में प्रगतिवाद जितने विश्वास से आगे बढ़ा उतनी ही तेजी से उसकी विसंगतियां, अन्तर्विरोध भी दीखने लगे और फिर कम समय के लिए ही सही प्रयोगवाद ने कविता को ह्रासोन्मुखी समाज, मध्यवर्गीय जीवन की कुंठा, संत्रास, बौद्धिकता की ओर मोड़ा। लेकिन उसके बाद का समय भारतीय स्वतन्त्रता की लहर का, उमंग का, आशा-आस्था का समय है, नये मूल्यों और नये शिल्प विधान की खोज नयी कविता और समूचे गद्य साहित्य में महसूस की गयी। नये भावबोध की अभिव्यक्ति के लिए नयी शैली, नयी लय-ध्वनि, नये उपमान, बिम्ब-प्रतीक, नये जीवन-मूल्यों के प्रति आस्थावादी दृष्टि का पनपना, सकारात्मक अनुभूति का होना एक अनिवार्य परिवर्तन था। साहित्य की हर विधा के कथ्य, संवेदना अधिक व्यापक हुई और रचना एवं उसकी संरचना में एक भिन्न प्रकार का खुलापन आया। साहित्य लोक जीवन के अधिक से अधिक निकट भी आता गया। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद का भारतीय समाज नयी कविता, नयी कहानी, नये नाटक, उपन्यास सबमें अपने अनुभूत यथार्थ को पूरी प्रामाणिकता के साथ, मूल्यांकन के साथ व्यक्त करने लगा। गद्य साहित्य तो जन-जीवन की अभिव्यक्ति का, मन के सूक्ष्म संवदेनों और संघर्षों की अभिव्यक्ति का आधार ही नहीं बना, उसमें कथ्य और शिल्प का वैविध्य और मानवीय संवदेना का विलक्षण घनत्व आया। स्वतन्त्रता-प्राप्ति का उल्लास या तो आंचलिकता के रूप में या आधुनिकता बोध के रूप में चारों ओर दिखायी दिया। मूल्यों का संक्रमण, मोहभंग की स्थिति बदलते रिश्तों के स्वर बहुत जल्दी ही जीवन और साहित्य में आने लगे। लेखिकायें सहानुभूति के धरातल पर महिलाओं

के व्यक्तित्व की परतों का, अस्मिता और द्वन्द्व का, स्त्री-पुरुष सम्बन्धों और दाम्पत्य सम्बन्धों का विशेष और विश्वसनीय चित्रण करने लगीं और पश्चिमी शैली शिल्प के प्रयोग भी बढ़े। देश-विभाजन की त्रासदी वैज्ञानिक आविष्कारों से प्राप्त सुविधाओं, मार्क्स, फ्रायड, अस्तित्ववादी दर्शन के प्रभाव से धीरे-धीरे साहित्य अजीब तरह की शून्यता, अकेलेपन, अजनबीपन और तटस्थता से भरता गया। हिन्दी गद्य अपनी सम्पूर्ण क्षमताओं और प्रयोगों के साथ कहानी, उपन्यास, नाटक, निबन्ध आलोचना के क्षेत्र में विकास कर रहा है – विशेषकर कथा साहित्य और नाट्य साहित्य के क्षेत्र में। कहानी और उपन्यास में अनुभव-संसार भी बढ़ा है और कथन की भंगिमायें भी। इस पूरे परिदृश्य के बीच उदयशंकर भट्ट का साहित्य रचा जाता रहा है। वह किसी आन्दोलन या वाद से भले ही न प्रभावित हुए हों परन्तु स्वभावतः आने वाला बदलाव उनमें दीखता है। खासकर उनके काव्यनाटकों, गीतिनाट्यों, नाटकों और एकांकियों में "गुरु द्रोण का अन्तर्निरीक्षण", "अश्वत्थामा", "विद्रोहिणी अम्बा" जैसे काव्यनाटक, "मत्स्यगंधा" जैसा गीतिनाट्य, "नया समाज", "कमला" जैसे नाटकों और बहुत से एकांकी और उनके रेडियो नाटकों में वह बदलाव, नया जीवन-सौन्दर्य, वह द्वन्द्व और यथार्थ मिलता है। मनोविज्ञान, मनोविश्लेषण, नये समाज की संरचना के लिए अन्वेषण-दृष्टि, नारी समस्या, स्त्री का आन्तरिक जगत् और आकांक्षायें, यथार्थ और शोषण इन रचनाओं में दृष्टव्य है। उनका "सागर, लहरें और मनुष्य" उपन्यास आंचलिकता को लेकर चलता है। मछुआरों के जीवन पर आधारित इस उपन्यास में नवीन परिस्थितियों के अनिवार्य दबाव, आधुनिकतावादी पूँजीवाद की अन्तिम परिणति का चित्र है। अपने स्थानीय रंग और यथार्थ से यह प्रभावित करता है – यद्यपि यह भट्ट जी के अपने व्यक्तित्व के प्रभावों से मुक्त भी नहीं है इसीलिए इसके यथार्थ को "रोमांटिक यथार्थ" कहा गया है। सारे साहित्यिक परिवर्तनों का प्रतिनिधित्व वह धारा करती है जिसमें भट्ट जी लिख रहे थे।

उदयशंकर भट्ट में विकासमान दृष्टि, जीवन और रचना, कला और संस्कृति के प्रति गहरी निष्ठा मिलती है। उनकी आत्मसजगता और मनुष्यता उन्हें किसी विचारधारा, साम्प्रदायिक और जातीय भावनाओं से नहीं बँधने देती। मूल्यों के लिए संघर्ष, निर्भीक अभिव्यक्ति, अदम्य जिजीविषा और वैचारिक गंभीरता उन्हें निरन्तर ज्वलन्त प्रश्नों से जूझने की शक्ति देती है। उनके साहित्य में समय और समाज का, समय और चेतना का पूरा साक्ष्य मिलता है।

2

जीवन, व्यक्तित्व और रचना–दृष्टि

उदयशंकर भट्‌ट का जन्म 1898 ई. में इटावा में अपने ननिहाल में हुआ था, इनके पूर्वज गुजरात के थे। बाद में गुजरात के सिंहपुर से आकर इन्दौर नरेश के न्यायाधीश होकर बुलन्दशहर आये और वहाँ के कर्णवास ग्राम में बस गए। अपने पितामह पं. दुर्गाशंकर का संरक्षण उन्हें मिला।

उदयशंकर भट्‌ट का जन्म विद्वान कुलीन, धार्मिक वृत्ति और संस्कार युक्त परिवार में हुआ था। घर का वातावरण सुबह-शाम वेदमंत्रों और यज्ञ से गूँजता रहता था उनके पिता पं. मेहता फतेहशंकर भट्‌ट अंग्रेज़ी और संस्कृत के विद्वान थे। वे स्वयं भी काव्य-रचना करते और गोष्ठियों में भाग लेते थे। सरकारी दफ्तर में कार्यरत थे। रोज धार्मिक पूजन और अष्टाध्यायी का पाठ करते और स्वयं उदयशंकर भट्‌ट को भी अमरकोश, रघुवंश पढ़ाते। उनकी शिक्षा-दीक्षा भी वेदों के अध्ययन के साथ हुई। नौ वर्ष की आयु में उपनयन संस्कार के बाद उन्हें यजुर्वेद सत्वर पढ़ाया गया। प्रातः एक पंडित रोज पढ़ाने आते थे। स्कूल में अंग्रेज़ी ज्ञान और घर पर संस्कृत पठन-पाठन। बचपन में संस्कृत में सर्वप्रथम अनुष्टप छन्द बनाने की बात भी भट्‌ट जी ने लिखी है। संस्कृत में समस्यापूर्ति करना उनके लिए सरल काम था। काशी में भी उन्होंने अध्ययन किया जहाँ स्व. पं. चन्द्रशेखर शास्त्री ने उन्हें संस्कृत के स्थान पर हिन्दी पढ़ने और हिन्दी लिखने की ओर प्रेरित किया। फिर पंजाब से शास्त्री की उपाधि ली और कलकत्ता से काव्यतीर्थ किया। बहुत शीघ्र ही उनके माता-पिता तथा परिवार के अन्य लोगों का देहान्त हो गया था। तेरह-चौदह वर्ष की आयु में ही वह एक स्वतन्त्र बालक हो गए। स्वयं उन्हीं के शब्दों में "उस स्पष्ट अंकुश के हट जाने पर मस्त हाथी की तरह मेरा निरंकुश मन आवारा हो गया। अपनी पढ़ाई लिखाई को ताक में रखकर मैं मूर्ख की तरह दिन भर घूमता। झूठ बोलना, अकड़

दिखाना बातें बघारना और एक गुंडे की तरह लोगों पर अपनी धाक जमाना मेरा काम था।" अपने किरण व्यवहार को भद्र जनोचित व्यवहार नहीं मानते। परिवार के एक वृद्ध अभिभावक ने जब उनकी आदतों से तंग आकर घर से निकल जाने की धमकी दी तो वह अभिमानवश घर छोड़ निकल पड़े। जिन-जिन मित्रों के "घर गए, उन्होंने विपरीत मार्ग ही दिखाया। हारकर वह गंगा के किनारे घाट पर ही बैठे रहे- भूखे-प्यासे एक साधु ने उन्हें एक भविष्य द्रष्टा की तरह जीवन का अर्थ समझाया और विद्या-अध्ययन के लिए प्रेरित करके उन्हें उनके घर पहुँचा दिया। चूंकि भट्ट जी को पैतृक संस्कार मिले थे और ब्रजभाषा काव्य के प्रति उनके पिता का विशेष अनुराग था, अतः कवि बनने की अदम्य इच्छा उनके मन में बचपन से ही घर कर गयी थी। उनकी वह आकुलता "मेरी पहली कविता" के नाम से कलकत्ता के साहित्यांक "नया समाज" में अभिव्यक्त हुई। बचपन से ही राष्ट्र कवि मैथिलीशरण गुप्त के "भारत भारती" ने और उस समय के अन्य कवियों ने, उनकी काव्य कृतियों ने उनका कण्ठ सर्वांग, काव्य-रस में डुबो दिया।

उदयशंकर भट्ट शास्त्री जी की बातों से प्रभावित होकर पुराने संस्कारों से ब्रजभाषा में लिखने लगे। अपनी ब्रजभाषा की सर्वप्रथम रचना को उन्होंने "सरस्वती" में भेजा लेकिन आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने उसे लौटा दिया। लेकिन भट्ट जी ने यह भी लिखा है कि "अक्टूबर 1917 में मेरा एक लेख "सांख्य दर्शन के कर्ता" शीर्षक से "सरस्वती" में निकला। स्वयं आचार्य द्विवेदी ने उसकी काफी प्रशंसा की।" उसके बाद से भट्ट जी ने लगातार ब्रजभाषा छोड़कर खड़ी बोली में लिखना प्रारम्भ किया। "मर्यादा", "प्रताप", "श्री शारदा" आदि समकालीन पत्र पत्रिकाओं में निरन्तर कवितायें निकलना प्रारम्भ हुईं। उनकी प्रथम रचना संभवतः "नवजीवन" (सं. केशव देव शास्त्री) में प्रकाशित हुई। अपनी शिक्षा के बाद उदयशंकर भट्ट ने लाला लाजपत राय के नेशनल कालेज, लाहौर में प्रथम अध्यापन शुरू किया फिर लाहौर के खालसा कालेज, सनातन धर्म कालेज में भी अध्यापन कार्य किया। उनका अधिकतर साहित्य लाहौर में ही रचा गया विशेषकर नाट्य लेखन की ओर प्रवृत्ति, विकसित हुई। 1921-22 में "असहयोग और स्वराज्य", "चितरंजन दास" रचनायें लिखी गयीं और उनका मंचन भी हुआ। स्वभाव से तेज उदयशंकर भट्ट राजनीति से भी जुड़े रहे। लगभग पाँच-छः वर्ष लगातार राजनीति में कार्य किया। कांग्रेस के कई ऊँचे पद संभाले। बरेली कांग्रेस कमेटी की कार्यकारिणी के कई वर्षों तक सदस्य रहे, जिला कांग्रेस के उपसभापति रहे, बरेली में सत्याग्रह के समय बहुत सक्रिय रहे लेकिन हृदय की शुद्धता में विश्वास करने वाले भट्ट जी को जब लोगों में, गाँधीवादियों में भी मन बचन का भेद, दोहरापन दिखायी दिया तो वह राजनीति को स्वीकार नहीं कर पाये। पं. मोतीलाल नेहरू द्वारा स्थापित बरेली की स्वराज्य

पार्टी के वह प्रमुख कार्यकर्त्ता और उत्तर-प्रदेश की असेम्बली के चुनाव के उम्मीदवार हुए। उन्हें उस समय लाहौर के क्रान्तिकारी दल में सक्रिय होना था, पर वह नहीं हुए। काफी समय तक वह फिर लाहौर के नेशनल कालेज में प्राध्यापक रहे। उन्होंने लिखा है कि भगत सिंह, सुखदेव, यशपाल, भगवती चरण, सबसे उनका सीधा सम्पर्क रहा। आजादी के बाद भट्ट जी आकाशवाणी के परामर्शदाता एवं निर्देशक रहे। बाद में अवकाश ग्रहण करने के बाद साहित्य-रचना में ही संलग्न रहे। बदलते हुए समय को अपने वैविध्यपूर्ण साहित्य में लेते हुए उदयशंकर भट्ट ने भरपूर लिखा। नाटक और एकांकी के क्षेत्र में अग्रणी गिने जाने वाले उदयशंकर भट्ट की मृत्यु 1966 को दिल्ली में हुई।

उदयशंकर भट्ट स्वयं अपनी आरम्भिक रचनाओं को "देखा-देखी" की, "भावापहारी" की मानते हैं। अर्थात् पूरी नकल भी नहीं-उसी छन्द या दूसरे छन्द में किसी कविता का भाव लेकर लिख डाला। इसी को वह अपने "लेखन का आरम्भ" मानते हैं। स्वयं भट्ट जी के शब्दों में "फिर अक्टूबर 1917 में मेरा एक लेख "सांख्यदर्शन के कर्ता" शीर्षक से "सरस्वती" में निकला। स्वयं आचार्य द्विवेदी ने उसकी काफी प्रशंसा की। तदनन्दतर ब्रजभाषा छोड़ कर खड़ी बोली में रचनायें कीं। संस्कृत में फिर कभी लिखा ही नहीं। कुछ समय तक तो हिन्दी से इतना प्रेम रहा कि मैं संस्कृत को भी हेय समझने लगा और मूल भाषा गुजराती भी भूल गया। पर आज वैसी धारणा नहीं है।" छुटपुट कवितायें लिखना और गाना - इस क्रम ने उन्हें आभास दिलाया कि वह कवि बन रहे हैं। उनकी पहली कविता "श्री शारदा" में 1919-20 में छपी। उससे पूर्व "सरस्वती" में द्विवेदी जी ने लेख तो छापा था पर कवितायें वह लौटाते गये। द्विवेदी युग का स्मरण करते हुए भट्ट जी कहते हैं-

उन दिनों मेरी दो कामनायें थीं, एक तो यह कि दार्शनिक बनूं, दूसरी यह कि मैं कविता लिख सकूं। सौभाग्य से "सरस्वती" में लगातार कवितायें भेजने पर भी उसमें वे नहीं छपीं। छपीं तो "श्री शारदा" में। यदि "श्री शारदा" ने कवितायें न छापी होतीं तो मैं क्या कविता लिखना बन्द कर देता ? इसका उत्तर कदाचित् मैं उस समय नहीं दे सकता था। आज कह सकता हूँ कि इसके बाद मेरी प्रेरणा ने मुझे पागल कर दिया। सही बात यह है कि वह चोरी मुझे फली और उसने मुझे सही रास्ते पर लाकर डाल दिया।" (मेरी रचना के स्रोत : पृ. 126)

उदयशंकर भट्ट का लेखक व्यक्तित्व बहुआयामी है। कविता, नाटक, एकांकी, रेडियो नाटक, निबन्ध, उपन्यास उनकी मुख्य विधायें हैं। दो-एक कहानी भी लिखीं पर कहानी लिखने में उनकी कोई रुचि नहीं थी। यह कहना अधिक उचित होगा कि उनकी कवि-संवेदना ने उनके पूरे साहित्य को प्रभावित किया

है— अन्तर्बाह्य दोनों रूपों में। रचना को वह "भूख की एक तृप्ति, नशे का आनन्द, बेचैनी का प्रसव, मन की उमंग मानते है और उसे लेखक की तन्मय दशा की अभिव्यक्ति कहते हैं। लेखक को स्रष्टा-द्रष्टा, प्रतिभावान् और उत्कट प्रेरणा के धनी मानते हुए अपनी भारतीय दृष्टि का और अपनी युगीन चेतना का परिचय देते हैं। उनके यह शब्द उल्लेखनीय हैं—

"मैं कल्पना कर सकता हूँ बाल्मीकि ने रामायण कैसे लिखी होगी, कालिदास ने मेघदूत आदि महाकाव्यों की रचना किस प्रकार की होगी, भवभूति ने नाटक कैसे लिखे होंगे, गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरित मानस का निर्माण कैसे किया होगा? निश्चय ही ये महाकवि सृजन प्रारम्भ होने से समाप्ति तक बाह्य संसार से असंपृक्त और अन्तर्मन में लीन रहे होंगे, इतने लीन, जिसे संसार की दृष्टि में एक प्रकार का "पागलपन" कहा जा सकता है। यही लेखक की समाधि दशा है। यह समाधि जितनी गहन, जितनी चिन्मय, जितनी एकान्त होती है लेखक की रचना उतनी प्रौढ़, उतनी-गहन, उतनी ही शाश्वत होती है।" (वही, पृ. 125) कविता उनके लिए अनन्त प्रकृति-सौंदर्य, आनन्द और अबूझ भाव की अभिव्यक्ति है। "साहित्य के स्वर" में "मेरी पहली कविता" में स्वयं उन्हीं की अनुभूतियाँ इस प्रकार है-

साधारणतया मैं शुरू से ही भुलक्कड़ तबीयत का आदमी रहा हूँ। कब मैंने क्या किया, क्या हुआ, कैसे हुआ, यह याद रखना मेरे लिये बहुत कठिन रहा है। घटनाएं मैं याद रख सकता हूँ बल्कि वे स्वयं याद रहती हैं पर सन् सम्वत् याद रखना तो मेरे लिये एकदम असंभव है, फिर यह कह सकना कि मेरी पहली कविता या रचना कौन सी है, कठिन है। कविता ऐसी चीज है जो एकदम स्वयं नहीं आ फूटती, पहले उसके उपकरण जुटते हैं, साधन इकट्ठे होते हैं तब उसका प्रादुर्भाव होता है। मेरे जीवन में भी कविता की प्रेरणा के स्रोत कई जगहों से आये हैं। मुझे वह समय अब भी याद आता है जब मेरे पिता सूरदास, कबीर, तुलसीदास के पद स्वर से गाया करते थे। उन्होंने स्वयं कभी कोई रचना की है ऐसा मुझे ज्ञात नहीं है परन्तु उनकी हस्तलिखित कापी मैंने देखी है जिसमें वे सुन्दर-सुन्दर पद लिखा करते थे और जब-तब सभी-गोष्ठियों में बड़े स्वर से उन्हें गाया करते थे। लोग मुग्ध होकर उन्हें सुना करते, मैं स्वयं धीरे-धीरे उनमें रस लेने लगा था। गोस्वामी तुलसीदास के रामचरित मानस का पाठ भी मुझे पिता जी को सुनाने के लिये करना पड़ता था। यह सब होते हुए भी मुझे यह कभी नहीं लगा कि मैं स्वयं ऐसी रचनाएं करूँ, इनके पाठ में एक प्रकार की धार्मिक भावना थी, उसी दृष्टि से मैं इन्हें पढ़ता या सुनाता था।

शायद मैं उन दिनों बहुत बड़ा तो नहीं होऊँगा। यही कोई ग्यारह-बारह

साल की उम्र होगी। एक दिन अचानक जो कुछ हो गया वह मुझे याद आता है, कि कहीं एक समाज में मुझे जाना पड़ा। वहाँ एक नवयुवक आया और उसने बड़े स्वर से अपनी रचनाएं सुनाईं। रचनाओं की गहराई तक जा सकना मुश्किल था, किन्तु पढ़ने की शैली, स्वर और उसका बाहरी रूप काफी आकर्षक जान पड़ा। परिचय में कहा गया यह कवि हैं और भी कई तरह से उसकी प्रशंसा की गई। पर यदि मैं ठीक-ठीक याद रख सका हूँ तो यह पहला व्यक्ति कवि के रूप में मेरे सामने आया था और मेरी समझ में आया कि कवि भी हम जैसा होता है। उसके बाद एक मास तक मेरे मन में एक प्रकार की उथल-पुथल मची रही। मैं यह नहीं जान सका कि यह मुझे क्या हो गया है, मैं क्या चाहता हूँ पर आँखों के सामने उसके पढ़ने का ढंग, धाराप्रवाह बोलने की भंगिमा, स्वर-शैली मूर्तिमान हो उठती। मन के भीतर एक उमंग उठती रहती किन्तु स्पष्ट कुछ भी नहीं था। कवि का वह रूप जैसे मुझ में व्याप्त हो गया था। आज न तो उसका रूप याद आता है और न उसके स्वर की पहचान है। फिर भी उतनी बात याद रही है। धीरे-धीरे शिक्षा के साथ स्कूल की किताबों में जो रचनाएं पढ़ीं उनसे स्पष्ट समझ में आने लगा मैं रचनायें जो मैं पढ़ रहा हूँ वैसे ही किसी कवि की लिखी होंगी जिसे मैंने देखा है या कविता-पाठ करते सुना है और आठवीं या नवीं कक्षा तक आते-आते वे भाव और भी स्पष्ट हो गये। महावीर प्रसाद द्विवेदी, मैथिलीशरण गुप्त, राम देवी प्रसाद पूर्ण, श्रीधर पाठक आदि कुछ कवियों की रचनाएं कोर्स की किताबों में पढ़ीं। मैं स्वयं उनकी रचनाओं को एकान्त में बैठकर पहली बार देखे उस कवि की तरह पढ़ने लगता और समझता जैसे ये मैंने ही लिखी हैं। 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक का गंगा-वर्णन उन दिनों गाता रहता। एक दिन की बात है, पूर्णिमा की रात थी। मैं अपने पिताजी के साथ, जो उस समय कुछ मित्रों सहित घूमने निकले थे, अजमेर में "आना सागर" तालाब के किनारे गया। आना सागर तालाब का एक भाग बिलकुल संगमरमर का बना है। वहीं से सब लोग तालाब का दृश्य देखने लगे। बड़ी रमणीक रात थी। सब ओर उज्ज्वल प्रतिबिम्ब, तालाब में चमचमाकर नाचती चाँद की किरणें और उसका हिलता प्रतिबिम्ब, धवल संगमरमर के घाट, बड़ा विचित्र दृश्य था। बच्चे इधर-उधर उछल-कूद मचा रहे थे और पिताजी एक जगह बैठकर बातचीत, हास-परिहास में संलग्न थे। इसी समय उनके किसी साथी ने कोई रचना सुनाई। उस एकान्त स्तिब्ध रात में रचना शायद पूर्णिमा की रात के सम्बन्ध में थी। उसके बाद पिता जी ने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का वह गंगा-वर्णन सुनाया। वह गंगा-वर्णन आना सागर तालाब पर पूरा तो नहीं घट रहा था, फिर भी वह सुन्दर लगा। मुझे उस समय भारतेन्दु जी के गंगा वर्णन की महत्ता मालूम पड़ी। जैसे वह वर्णन केवल इसी समय के लिये लिखा गया हो। मैं मूक तन्मय होकर वह वर्णन सुन रहा था—

नव उज्ज्वल जलधार हार हीरक-सी सोहति
विच विच छहरति बूंद मध्य मुक्ता मनि पोहत
लोल लहरि लहि पवन एक पै इक इमि धावत
जिमि नरगन मन विविध मनोरध करत मिटावत
सुभग स्वर्ग सोपान सरिस सबके मन भावति
दरसन मज्जन पान विविध भय दूर मिटावति।

उस चन्द्रिका-धवलित ज्योत्सनामयी पूर्ण रजनी में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की उस कविता ने मेरे प्राणों में जैसे एक नया ही रूप खड़ा कर दिया। उसके बाद और लोग, स्वयं पिताजी भी हास-परिहास में लीन हो गये। किन्तु मेरे मन में न जाने फिर कैसा होने लगा। रह-रहकर एक उफान-सा उठता, एक हल्लोल सी भीतर से आती। मुझे लगा जैसे मैं आत्मविभोर हो रहा हूँ। आनन्द ही आनन्द उस समय मुझे अपने चारों ओर दिखाई देने लगा। मुझे मालूम हुआ मेरी तरह इस तालाब के पानी में, इस चाँदनी में, इन लहरों में मेरी तरह इस तालाब के पानी में, इस चाँदनी में, इन लहरों में, पर्वत की उपत्यकाओं में जो उस तालाब को तीनों ओर से घेरे खड़ी थीं, जीवन नाच उठा है। उसके प्राण मूक होकर भी हँस रहे हैं। आनन्द में विभोर हो रहे हैं। प्रकृति कितनी सुन्दर है, कितनी प्राणवान।

मेरे मन में रह-रहकर प्रश्न उठता क्या प्रकृति हमसे अलग है जो उसका रस, उसका सौन्दर्य हमें मिलता है ? हमें वह अन्न जल देती है, शक्ति-सामर्थ्य से सम्पन्न करती है, अपनी सुषमा से भी हमें प्राणवान-समर्थ बनाती है ? कितना सुन्दर है वह सब कुछ, कितना मोहक, कितना मादक। मैं तो जैसे मुग्ध हो गया। सोचा भारतेन्दु की कविता क्या इस रूप का पूरा चित्र उतार सकी है, क्या कोई भी कविता उतनी यथार्थता से प्रकृति के इस सौन्दर्य, इस रसप्लावन का चित्र उतार सकती है ? शायद शब्दों में उतनी शक्ति नहीं है। चित्र भी उतने पूर्ण रूप से उसे प्रतिबिम्बित नहीं कर सकते और कर सकते हैं तो प्रकृति में जो क्षण-खण में सुन्दर होता जाता है, वह जो क्षण-क्षण में नया रूप परिधान पहनती है और सुन्दर से सुन्दरतर होती जाती है क्या कोई कविता वह क्षण-क्षण का परिवर्तन, वह रूप-विधा दे सकती है। विश्व-प्रकृति के पावन सौन्दर्य का वर्णन करने में न चित्र समर्थ है न मनुष्यकृत कोई रचना।

मुझ लगा यह एक अक्षय रस है जो मुझे पीना चाहिये। और शायद सौन्दर्य के प्रति एक मोह मुझ में उत्पन्न हो गया। मेरी आँखें उस सौन्दर्य को सब जगह खोजने के लिये उत्सुक रहने लगी, उस रस को पाने के लिये लालायित हो गईं। मुझे लगा प्रकृति ही सब कुछ है। सम्पूर्ण रस सम्पूर्ण सौन्दर्य की खान है। जैसे आनन्द हमें उसी से थोड़ा बहुत मिला है। थोड़े दिनों बाद सौन्दर्य की, रस की

चाह जैसे अपने आप सूख गयी और मैं भूल गया। पर एक समय जब मुझे पिता जी के साथ बम्बई जाने का अवसर मिला और मैंने बम्बई की ऊँची-ऊँची अट्टालिका से अपार जलराशि के सागर, समुद्र के दर्शन किये तब जैसे सब सोया हुआ फिर जाग पड़ा। बम्बई के समुद्र को देखकर जैसे मैं खो गया। उस समय मैं अपेक्षाकृत सचेत था। मानता हूँ समझने की क्षमता मुझमें बढ़ गई थी। कुछ किताबों में पढ़ा कुछ आँखों से देखा, कुछ मन में कल्पना जगी। एक तरफ उमंगों-सा मन का सागर और दूसरी ओर पृथ्वी के तटों से अठखेलियाँ करने वाला जल-समुद्र। क्या इतना महान्, इतना विशाल, इससे पूर्व मैंने कभी देखा था ?

इस समुद्र में जहाँ सौन्दर्य है वहाँ भय भी कम नहीं है। तो क्या इस प्रकृति में भय भी है ? एक-एक करके किताबों में पढ़े हुए शृंगार, करुण, वीभत्स, भयानक रसों की बातें आँखों के सामने झूमने लगीं और मन असमर्थ हो उठा। पर मन का उफान कम नहीं था। अब आनन्द की जगह भय भी था। अपने को नाचीज समझने की मुझ में कमजोरी आ गई। इससे पूर्व अभिमान की मात्रा मुझमें काफी थी। अपनी कुलीनता का अभिमान था। अपने को बड़ा समझने का महत्व भी छुई-मुई की तरह विलीन हो गया। जो पढ़ता उसमें जी नहीं लगता। मन में जैसे कुछ नहीं था, फिर भी भरा-भरा रहता। बम्बई के दृश्य आँखों में झूमते। वह विशाल सागर मेरी दृष्टि के लिये पहेली हो गया था। जानता मैं कुछ नहीं था सोचने की सामर्थ्य मुझ में नहीं थी। स्कूल का बहाना करके घर से निकलता, रेलवे स्टेशन के प्लेटफार्म का चक्कर काटता, कभी दौलत बाग, कभी आना सागर के किनारे जा बैठता और स्कूल समाप्त होने का समय जानकर घर लौट आता। मन की बात किसी से कहने की इच्छा नहीं थी और शायद कोई सुनना भी पसन्द न करता। स्पष्ट तो यह है मैं स्वयं कुछ भी नहीं जानता था। कहता भी क्या। तुनकमिजाजी, चिड़चिड़ापन और अकेलापन मेरे स्वयं में समा गया था। कुछ अच्छा भी न लगता। मन में बेचैनी थी।

और इन्हीं दिनों हमारे घर में आगरा से एक परिवार आकर ठहरा— एक कन्या और पति-पत्नी। पति-पत्नी बड़े मोटे, भद-भद। पति हँसमुख, पत्नी विनीत पर लड़की बड़ी स्वाभिमानिनी, तेजस्वी और बातचीत में चंचल। दो-एक दिन के बाद ही मुझ में और उसमें संघर्ष छिड़ गया। वह जैसे मुझ पर शासन करना चाहती। मेरे कमरे पर उसने कब्जा कर लिया। मेरी किताबें उठाकर एक ओर रख दीं और अपनी किताबें वहाँ जमा दीं। एक दरी बिछाकर वहाँ बैठने लगी। मैं लापरवाही से कपड़े उतार इधर-उधर पटक देता तो मुझे डाँटने लगती। सलीके से रहने का उपदेश देती और भी बात-बात में मुझे टोकती। यहीं तक

नहीं मेरा मजाक उड़ाने से भी न चूकती। जितना ही मैं घृणा-उपेक्षा की निगाह से उसे देखता उतना ही तिलमिलाकर वह व्यंग्य करती। एकाध बार हाथापाई की नौबत भी आ गई। घर-भर में कोहराम मच गया। दोनों को नसीहतें दी गई। मामला रफा-दफा हुआ पर मन नहीं मिले। हम दोनों एक दूसरे को नीचा दिखाने की कोशिश करते। अन्त में मेरे शारीरिक बल के आगे और घर के स्वामी होने के नाते उसे झुकना पड़ा। फिर भी मुझे याद है उसकी निरीहता पर मैंने दया न की और एक दिन हलहलाकर मुझे बुखार हो गया। ऐसा बुखार शायद मुझे कभी नहीं आया था। शायद बेहोशी भी हो गई हो। याद नहीं है। उन्हीं दिनों माँ के बाद जिसने मेरी देखभाल की वह वही लड़की थी। वह दिन-दिन भर मेरे पास बैठी रहती। मुझे समय पर दवा देती। मेरा दर्द से फटता सिर सहलाती। रात को भी जब तब वह मेरे सिरहाने आ बैठती और सिर पर हाथ फेरने लगती।

बीमारी से दस-पन्द्रह दिनों बाद उठने पर मुझ में एक नया परिवर्तन उसके प्रति हो गया। मेरे मन में ग्लानि थी, पश्चाताप था और उसके प्रति न दया थी, न घृणा। मैं कह नहीं सकता वह क्या था। पर था कुछ जरूर। मैं विस्तार से नहीं कहूँगा पर जो कुछ था वह अजीब बेचैनी से भरा था। एक लालसा, एक लगन। एक लिप्सा, एक अदम्य मनोवेग। बहुत दिनों तक भीतर से युद्ध करता रहा और एक दिन अचानक वह देखने को मिला जो जीवन में कभी नहीं देखा था, कभी नहीं जाना था। नदी का सा ज्वार शरीर में लहराने लगा। वह सौन्दर्य की प्रतिभा आराध्य देवी बन गई। मन छटपटाने लगा। अपने मन के इस उफान को कैसे व्यक्त करूँ ? क्या कहूँ ? कैसे कहूँ ? उसी अवस्था में एक रात को मैंने एक कविता लिखी। वह क्या कविता थी।"

भारतीयता, समाज, जीवन में गहरी आस्था के साहित्यकार उदयशंकर भट्ट लेखन को सोद्देश्य मानते है लेकिन यह "सोद्देश्यता" किसी वाद से प्रभावित नहीं है। "वादों की सीमा में असीम साहित्य और सौंदर्य संकुचित हो जाता है और काव्य की महत् निष्ठता में व्याघात होने लगता है।" कहने वाले भट्ट जी समाज और व्यक्ति को ऊपर उठाने की प्रेरणा को महत्व देते हैं। उनके लिए "कला जीवन के लिए है, कला के लिए जीवन नहीं है।" किसी प्रकार की दार्शनिकता से ग्रस्त न होते हुए वह लेखक को भी अपूर्ण कहते हैं और लेखक को पूर्णता का आभास मात्र होता है — वह भी उसकी भ्रान्ति है। लेखन के प्रति पूर्ण एकाग्रता और सेवाभाव भट्ट जी की विशेषता है लेकिन उसके साथ ही लेखक की निरन्तर जिज्ञासा और अपूर्णता को भी महत्व देते हैं। अपनी रचनाओं से — विशेषकर कविताओं और नाटकों में उन्होंने जो भी कहना चाहा है, स्पष्ट कहा है। इसलिए रागात्मकता, निष्ठा, आधुनिकता, मुखरता उनके साहित्यिक

गुण हो जाते हैं। आत्मप्रेरणा और वस्तु के प्रति ईमानदारी ऐसे तत्व हैं जो लेखक और पाठक दोनों को उल्लसित करते हैं और ऊपर उठाते हैं। इसलिए बार-बार वह इस प्रश्न से साक्षात्कार करना चाहते हैं कि लेखक स्वयं क्या है? क्या वह अपना चिंतन साहित्य को देता है अथवा वह समष्टि का प्रतिनिधि है? साहित्यकार का चरम लक्ष्य वह जीवन-सत्य का अन्वेषण और उपलब्धि मानते हैं। केवल युगीन समस्याओं, वादों और साहित्य के रूचि को ग्रहण करना नहीं। क्योंकि उनके अनुसार व्यक्ति और समाज की अहंजन्य मान्यताओं - सिद्धान्तों को, तर्को और वादों को आरोपित नहीं किया जा सकता क्योंकि उनके अनुकूल प्रतिकूल दोनों परिणाम हो सकते है। उनकी मान्यता है कि लेखक न अवतार या सुधारक। रचनाकार को मानव जीवन के बीच का ही प्राणी मानते हुए वह उसमें आदर्श और यथार्थ दोनों देखते हैं। उसे जीवन का व्याख्याता, शिव को चरितार्थ करने वाला, और मानव जीवन की सर्वांग शक्तियों के विकास का प्रेरक तो होना ही है लेकिन "जीवन की पूर्ण स्वतन्त्रता उसकी अभिव्यक्ति का एकमात्र ध्येय है।" व्यक्ति स्वातन्त्र्य, समाज-स्वातन्त्र्य ही रचनाकार का दायित्व है ! साहित्य को अनश्वर मानते हुए भट्ट जी व्यास, वाल्मीकि, तुलसीदास के साहित्य में जो असीम सौंदर्य पाते हैं, उसी परिप्रेक्ष्य में साहित्य की मर्यादाओं की चर्चा करते हैं।

"मेरे मन में जन संबुद्ध, विवेक-पुष्ट आत्माभिव्यक्ति ही उसकी मर्यादा है। उन्हीं को मानकर वह जीवन की व्याख्या करता है। स्वतः प्ररेणा, जो उसने जीवन और अन्तर्दशन में ग्रहण करके अनुभूति के रूप में प्राप्त की है, उसके साहित्य का प्रकाश-स्तम्भ है। साहित्य यदि युग धाराओं को प्रतिबिम्बित करता है तो वह उन शाश्वत तत्वों की व्याख्या भी करता चलता है जो युग युगान्त से मानव को आलोकित करते रहते हैं।" (साहित्यकार की समस्या साहित्य के स्वर, पृ. 3)

मानव जीवन को इस प्रकार नया आलोक देने के लिए उदयशंकर भट्ट के अनुसार साहित्यकार में सबसे पहले नम्रता आना आवश्यक है। इसीलिए वह "रघुवंश" के प्रारम्भ के इस वाक्य "मंदः कवियशः प्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्" का स्मरण करते हैं और वाल्मीकि एवं तुलसीदास के द्वारा राम के चरित्र की प्रशंसा करने और अपने को छोटा कहने को इसलिए महत्व देते हैं क्योंकि लेखक का अहं तो साहित्य में घुल मिल जाता है। उनके अनुसार "अहं की उच्चतम अभिव्यक्ति ही शैली को वैशिष्ट्य देती है। उसे चमत्कृत करती है। साहित्य में सत्य का स्वरूप लेखक के चरित्र उसके आत्मबल, पैनी दृष्टि को प्रकट करते हैं। (मेरे जीवन के मोड़ : साहित्य के स्वर, पृ. 162) लेकिन साथ ही वह यह भी कहते हैं कि साहित्य-सृजन के समय कई उपादान एकत्र होते हैं। उनके

एकत्रीकरण और प्रस्फुटन की प्रक्रिया अद्भुत होती है।" क्योंकि साहित्य का सृजन व्यक्ति सापेक्ष है, जो कलाकार या स्रष्टा कहलाता है . . . तो यह भी मानना पड़ेगा कि रुचि-भेद एवं मनोगत विचारक भेदों के कारण प्रत्येक कलाकार में इसकी प्रस्तुति अपने विशेष प्रकारों को लेकर होती है। इसलिए मैं मानता हूँ कि साहित्यकार के सृजन उपादान जहाँ अन्य उपादानों से भिन्न हैं वहाँ वे व्यक्ति की निरीक्षण प्रखरता, प्रतिभा, सहज अनुभूति, कल्पना एवं मनोगत भाव तादात्म्य से भी सम्बन्ध रखती है। इन सब में मौलिक तत्व है विषय का ज्ञान और रुचि। रुचि संस्कारजन्य होती है। यद्यपि ज्ञान समर्जित होता है फिर भी उसकी पूर्णता, वातावरण, अध्ययन, संस्कार से सम्बन्ध रखती है। उस दशा में संस्कारों से प्रतिभा का उदय होता है।" (सृजन से पूर्व और पश्चात् : साहित्य के स्वर, पृ. 5)

उदयशंकर भट्ट ने अपने जीवन की ऐसी घटनाओं का उल्लेख किया है जो उनके स्वभाव और व्यक्तित्व में परिवर्तन लाती हैं। जो उन्हें नयी-जीवन-दृष्टि से जीवन देखने को प्रेरित करती हैं। जो कुछ तुम सच्चाई से मानते हो, साहित्य में उसे प्रकट करो। अपने को धोखा मत दो। यह निश्चय है तुम्हारे असत् साहित्य से कुछ लोग प्रभावित होंगे किन्तु सब नहीं, सदा के लिए नहीं। एक न एक दिन असत्य प्रकट होकर रहेगा।" यह वह मूल मंत्र है जो लेखक के मन में गूँजता रहता है। अपने को "सेवाभावी" लेखक मानते हुए भी वह कहते हैं कि "इतने वर्षों तक लिखने के बाद भी अपने को अपूर्ण और जिज्ञासु मानता हूँ। किन्तु जो बात मैं ठीक समझता हूँ उसे पूरे बल से कहता हूँ। कविताओं में भी नाटकों में भी।" कविता में गुरु सम्प्रदाय के वह बहुत पक्षधर नहीं हैं क्योंकि "हिन्दी कविता में जो वैविध्य आया है, एक विद्रोह फूटा है उसका एक मात्र कारण कवियों का निरंकुश होकर अपने को माँजना रहा है।" (साहित्य के स्वर, पृ. 40) पर आरम्भिक विकास के लिए उस परम्परा का वह पूर्णतः विरोध भी नहीं करते।

उदयशंकर भट्ट किसी वाद या विचारधारा से जुड़े साहित्यकार नहीं हैं। वह स्पष्ट कहते हैं कि उन्होंने किसी बाद को लक्ष्य में रखकर काई रचना नहीं की। न किसी वाद में उन्हें प्रभावित किया। बल्कि वह मानते हैं कि "वादों की सीमा में असीम साहित्य सौंदर्य संकुचित हो जाता है और काव्य की महत् निष्ठता में व्याघात होने लगता है।" वह रचे जा रहे साहित्य के प्रति भी आश्वस्त नहीं हैं क्योंकि वह मनुष्य को कोई दिशा-संकेत नहीं दे रहा बल्कि भ्रमित कर रहा है। मनुष्य नहीं समझ पाता कि वह क्या करे, कहाँ जाये ? आदर्शवाद, यथार्थवाद, प्रगतिवाद, गाँधीवाद सबके प्रभाव और प्रयोगों के भट्ट जी जानकार

हैं, भोक्ता हैं। वह यह भी अनुभव करते हैं कि बाल्टेयर के व्यक्तिवादी साहित्य ने किस तरह फ्रांस में क्रान्ति पैदा की और मार्क्स, एंगल ने किस तरह पूरे विश्व को हिलाया हुआ है ? लेखक भट्ट की मूल चिंता किसी वाद या प्रभाव की नहीं बल्कि आज की भूख, महामारी, जनसंख्या की भंयकरता के प्रश्नों और मानवता के प्रश्न की है, साहित्य में उसके समाधान तलाशने की है। मान्व कल्याण की उनकी चिंता ही उनके व्यक्तित्व और साहित्य की उपलब्धि है। मानवतावाद को "लिव एण्ड लैट लिव" (जियो और जीने दो) के सिद्धान्त से ही वह फलीभूत देखते हैं। जन-साधारण के क्षीण होते नैतिक बल और आज के युग में राजनीति के भयंकर दबाव से बचने का एकमात्र उपाय वह साहित्य में ही देखते हैं। प्रगतिवाद के उदय और स्वरूप को वह अपने निबन्धों में स्पष्ट भी करते हैं और प्रगतिवाद के प्रति अपने मन की शंकायें भी प्रकट करते हैं। प्राचीनता का एकदम बहिष्कार करनेवाली प्रगतिवादी खेमे की असहिष्णु वृत्ति और साम्यवादी के विरोधी के प्रति नितान्त नकारात्मक भाव के लिए उनका कहना है कि "आश्चर्य तो यह है कि प्रगतिवाद रूढ़ियों को विच्छिन्न करते हुए स्वयं रूढ़िग्रस्त है।" (हमारा साहित्य किधर : साहित्य के स्वर, पृ. 32)

प्रगतिवाद और प्रयोगवाद दोनों के पास जीवन के लिए कुछ ठोस नहीं है। वाद साहित्य की आधारभूत शिलायें नहीं है। परिस्थितियों से उत्पन्न वाद विचारों में गांभीर्य अवश्य लाते हैं पर साहित्य की प्राणवत्ता और स्थायित्व मानव जीवन की सार्थकता में ही है। साहित्य स्वयं सौन्दर्य एवं महत्व-सम्पन्न एक शक्ति है। साहित्य के प्रति उनकी यह दृष्टि, स्वयं उनका व्यक्तित्व रचनाओं में, भाषा और अभिव्यक्ति में पूर्णतः प्रस्फुटित हुआ है। वह सामाजिक जीवन, मान्यताओं, जीवन-यथार्थ में हस्तक्षेप भी करते हैं पर मूल्यों की चिंता उन्हें हमेशा रही है।

3

उदयशंकर भट्ट का काव्य

1920 से 1966 तक के हिन्दी साहित्य के परिदृश्य और काव्य की विभिन्न प्रवृत्तियों का प्रतिबिम्ब उदयशंकर भट्ट के काव्य से उपलब्ध होता है। जयशंकर प्रसाद की तरह मूलतः वह कवि और नाटककार हैं। यद्यपि उनका काव्य प्रसाद की काव्य रचनाओं की तरह सूक्ष्म, सशक्त, क्रान्तिकारी नहीं है पर एक तो स्वयं भट्ट जी के व्यक्तित्व, कवि-मन और कवि और काव्य, कवि और युग-चिन्ताओं को समझने के लिए जो राष्ट्रीय सांस्कृतिक धारा होते हुए भी वर्तमान काल तक राष्ट्रीय सन्दर्भों में निरन्तर नयी और गहरी होती गयी है, आवश्यक है कि उदयशंकर भट्ट के काव्य का पुनर्मूल्यांकन किया जाये। उनके काव्य में कविताओं के अनेक स्वर, अनेक प्रयोग हैं लेकिन वह कहीं भी सन्देह, भ्रांतियों, उलझाव से ग्रस्त नहीं हैं। मनुष्य उनकी मूल चिंता है, इसलिए गहरी आस्था, विश्वास मानवीय संवेदना, सांस्कृतिक दृष्टि उनकी कविताओं में आरम्भ से अन्त तक मिलती है। छायावाद की कल्पना, भावुकता, दार्शनिकता भी उनमें है, छायावादोत्तर युग की प्रखरता, ओज, प्रवाह और गति भी है, गाँधीवाद का मानवतावादी विश्वास भी और आदर्शवाद से टकराता यथार्थवाद, प्रगतिवाद भी। यह दूसरी बात है कि उदयशंकर भट्ट का अपना स्वभाव, चिंतन, जीवनदृष्टि और आवेग सर्वत्र है। स्वतन्त्रता-पूर्व से स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद का समय, कवि-मन उनकी कविताओं में गूँजता है। उनके काव्य को केवल उनके काव्य-विकास के अर्थ में नहीं, उस समूचे गुग और समय की अभिव्यक्ति के रूप में कविता की आवश्यकता के रूप में, उनके भाषा, छन्द, बिम्ब-प्रतीक, उपमान सभी में आने वाले परिवर्तन के अर्थ में देखा जा सकता है।

इतिहास के द्वारा अतीत का गौरव गान और सांस्कृतिक पुनर्जागरण की गहरी आकांक्षा, राष्ट्रीय चरित्र-निर्माण का संघर्ष और संकल्प अपनी अदम्य

जिजीविषा के साथ "तक्षशिला" (1929) में व्यक्त हुआ है। कवि को तक्षशिला की घाटी में भारतीय महत्व की गहरी झलक मिलती है— उसके एक एक खंडहर में भारत की आत्मा, अतीत की वैभव कहानी और करुणा की अनुभूति होती है। "तक्षशिला" की कविताओं में तन्मयता, आनन्द, औत्सुक्य और विषाद घुला मिला है। सुगठित भाषा, माधुर्यपूर्ण शब्दावली, ओज और गांभीर्य के साथ ऐतिहासिक सन्दर्भों की भी प्रामाणिकता है और काव्यात्मक सौन्दर्य के साथ भारत के प्राचीन सांस्कृतिक केन्द्र को जनता तक पहुँचाने का हृदयग्राही मार्मिक स्वर भी है। विशेष बात यह है कि स्वयं कवि सारे कथाभागों को इतिहास-सिद्ध मानना बहुत जरूरी नहीं समझता — कविता की दृष्टि से जो जरूरी है उसे महत्व देता है। "तक्षशिला" सप्तम स्तरों में रचित है। प्रथम स्तर में उस ऐतिहासिक काल का, अतीत का स्मरण है—

तक्षशिला के ध्वंस आज ये
देते गत जीवन सन्देश
भाग्यचन्द्र की धुरी धरा पर
रखती अपना स्थान विशेष।

पंचम स्तर तक तक्षशिला की संस्कृति, शिल्प, शिक्षा, विज्ञान, तन्त्र, वेद और अशोक के व्यक्तित्व का वर्णन है। षष्ठ स्तर में रण और संगीत की तीन ताल में कवि की उक्ति है—

प्रभो तव लीला! कौन बखाने
अविदित गति हो कौतुककारी
परम प्रवीण सयाने।

अन्त में सत्पम स्तर में भारतीय शास्त्रीय दृष्टि से कवि कहता है—

सम्प्रति वीणा ने फिर गाया
एक सुरीला गान
दिग्दिगन्त में हुआ प्रवाहित
एक राग कल्याण।

फिर उपसंहार में भग्न स्मृतियाँ हैं। इतिहास, काव्य, संगीत, नाट्य का विलक्षण सामंजस्य और एक प्रकार की वर्णनात्मक सरलता "तक्षशिला" में है। कवि की शोध-वृत्ति, अन्वेषणपरक दृष्टि, विदेशी और भारतीय साहित्य का अध्ययन इस काव्य की गम्भीरता सामने लाता है। इसी प्रकार की भावात्मकता और वर्णनात्मकता "राका" (1931) और "विसर्जन" (1936) में भी दीखती है। "विसर्जन" में धीरे-धीरे कुछ कवितायें ऐसी अवश्य मिलने लगती हैं, जिनमें

मानवीय चिंतायें हैं पर अभिव्यक्ति के स्तर पर वे बहुत महत्वपूर्ण नहीं लगतीं। उनमें आवेग अधिक है, संतुलन का, सूक्ष्मता का अभाव है।

लेकिन भट्ट का "मानसी" (1935) काव्य उतना सरल, वर्णनात्मक न होकर छायावादी अप्रत्यक्ष सौन्दर्य का, तीव्र अनुभूति का काव्य है, प्रकृति, दर्शन, उल्लास, आनन्द का उदात्त काव्य है। कवि सुख-दुःख के अर्थ को समझने के लिए दुःख के कारणों को खोजता है। ग्रीक साहित्य, शेक्सपीयर, इब्सन तक आते आते महसूस करता है कि "व्यक्ति नहीं, समाज दुःख का कारण है।" भाग्यवाद के रूढ़िवादी विचार को भूलकर प्रगतिशीलता और बुद्धिवाद, यथार्थवाद यहाँ कवि को प्रभावित करते हैं कवि के अनुसार "मानसी में विश्व का यथार्थ दर्शन है। प्रकृति के "रूप" दृश्यों के दृष्टिकोण का संकेत है।" कवि ने हृदय राग से, विचार से मिलकर विश्वात्मा से संवाद स्थापित किया है—

किसलय के पन्ने से दिल से
मस्ती यहाँ थिरक हँसती है।
पग पग पर उल्लसित विश्व
रज रज में स्वर्गों की बस्ती है

प्रकृति का उल्लास चारों और बिखरा है—

यौवन भार लिये अलसाती
इठलाती है सरिता धीरे
भूधर की गोदी में हँसती
पहन हृदय में झिलमिल हीरे।

लेकिन मनुष्य में बढ़ती जा रही अमानुषिकता, घृणा, हिंसा, धनी-निर्धन का वैषम्य, वर्गभेद उसे उद्वेलित करता है और अध्यात्म, ईश्वर, धर्म, पूर्वजन्म आदि विधान पर उसका विश्वास उठ गया है। अब मनुष्य को ही ब्रह्मा, विष्णु, महेश मानने वाला कवि इस प्रश्न का उत्तर अवश्य खोजना चाहता है कि "मैं हूँ कौन"। "मानसी" का "कुहू" गीत वस्तुतः कवि-मानसी का काव्य-दर्शन है, जीवनानुभूति है:

मैं न जानती जग की रानी
क्यों गाती हूँ-क्या गाती हूँ।

वह अपने "वर्तमान" में मस्ती से उड़ती है। वह अपनी आँखों से दुनियाँ को "मस्ताना" और प्रत्येक प्राणी को बन्धनहीन देखती है और कुहुक उठती है—

गाओ, गाने दो औरों को
रहा किसी का नहीं जमाना

"विनय मोहन शर्मा ने "मानसी" के कुहू गीत को हिन्दी संसार की स्पृहणीय और अपर रचना कहा है। वस्तुतः "मानसी" की अन्तरधारा, मानवीय जीवन-समस्याओं के बीच मानव की अन्तःशक्ति के प्रति विश्वास पैदा करना, कर्म-क्षेत्र में उतरने का उत्साह, आशा-आस्था पैदा कर आँसुओं के स्थान पर जीवन के सुख-सौन्दर्य के प्रति, आह्लाद के प्रति उत्सुकता पैदा करना है। यहाँ वर्तमान का यथार्थ भी है और भविष्य का आलोक भी। यह काव्य "सामाजिक उत्कर्ष" का काव्य, अन्तःप्रेरणा का उदात्त काव्य है। चिरन्तन आनन्द की सृष्टि और "व्यथा का राग" "मानसी" को प्रसाद के "आँसू" जैसा अनुभव कराता है, कभी महादेवी वर्मा का सा माधुर्य :

नभ के नक्षत्रों सी जिसकी
दीवारों में छन्द जड़े हैं
पीड़ा के, समृति के, जड़ता के
मानों बिखरे बीज पड़े हैं।

उदयशंकर भट्ट "मानसी" में भी सरल, स्पष्ट, प्रत्यक्ष हैं। आलंकारिक बन्धन से मुक्ति होते हुए भी अलंकार सहज ढंग से आते हैं, जैसे विरोधाभास अलंकार—

अरे यहाँ ठंडी आहों की
ज्वालामुखियाँ भी तो फूटीं।

जायसी जैसी समासोक्ति (प्रस्तुत में अप्रस्तुत अर्थात् अध्यात्म पक्ष का व्यंग्य) "मानसी" में भी है—

वह अपनी आँखों के मद से
सींच रही है जग फुलवारी
उसके कभी मुस्कराते ही
हँस उठती है क्यारी-क्यारी।

उदयशंकर भट्ट के परोक्ष संकेत जटिल और अस्पष्ट नहीं हैं - उनकी कल्पना कविता को दुरूह नहीं बनाती। "मानसी" में गूँज है, लय है, आवेग नहीं है, मादकता नहीं है, लेकिन प्रकृति के सौन्दर्य और यथार्थ को मानव-जीवन में ढालने के कारण उसमें जागरण और प्रेरणा का स्वर-प्रवाह अवश्य है। हिन्दी में "समरसता और आशावाद का उदय करने वाली" रचना इसे आलोचकों ने माना। "मानसी" में चित्रों की भरमार है— **स्नैपशाट** शैली में सहज, मोहक चित्र, पर उन चित्रों में कहीं भी गोपनीयता नहीं है। अक्सर कवि अपूर्व उपमानों की भी झड़ी लगा देता है—

युवती की आँखों सी मादक
यौवन सी, स्मृति सी मतवाली
वह सीमा थी सुन्दरता की
आँखों की मोहक उजियाली

पर यहाँ कल्पना, पाठक को छूती है। यहाँ कवि, मानस "नयी उत्सुकता"– "नये संसार" की उत्कंठा से भरा हुआ है। यह उत्कंठा "अमृत और विष" (1939) में भी दिखायी देती है। इस संग्रह में पुराने तेजस्वी स्वर की, राष्ट्रीय चेतना की कवितायें भी हैं और कुछ नवीन अनुभव क्षेत्र का भी संकेत करती हैं। अधिकांशतः लम्बी कवितायें हैं और यथार्थ से, मनोविज्ञान से, मानवीय संवदनों से जुड़ी हैं। "सैनिक" मनोवैज्ञानिक चिंतन की, मानवीय और राष्ट्रीय चरित्र की लम्बी कविता है, शिल्पगत बारीकियों और जटिलताओं की नहीं। बेल्जियम के आक्रमण के बाद युद्ध में लाशों के ढेर में पड़े सैनिक की अभिव्यक्ति देश काल की सीमा से परे मानवीय द्वन्द्व की रचना है। इसी प्रकार "रिफ्यूजी", "बंगाल", "दलित", "नर्तकी", "लुई सुई शैकाई" कवितायें कवि के रचना-सरोकारों, काव्यशिल्प में नयेपन की द्योतक हैं। "दलित" का यह छन्द-जहाँ भाववस्तु के अनुरूप भाषा भी, शब्द प्रयोग भी उसी संसार के लिये गये हैं–

सूखी चमड़ी थी फाँकदार
छाया नद का धूमिल था पर
पिचका सा चेहरे म्लान रंग
कंकाल अस्थिमय रंग भंग।

कविता के स्वभाव में पूर्णतः बदलाव न आते हुए भी "दलित" ध्यान आकृष्ट करती है। "नर्तकी" में कविता के भीतर कथा-कथन और नाट्य रूप दोनों अन्तर्ग्रथित हैं और कल्पना-शक्ति भी–

पाप के इशारे पर नाचती थी स्वर्ण छवि "लुई सुई शैकाई" में जापान की तरुणी का चीनी युवक शैकाई से प्रेम और विवाह का सुखी जीवन है पर अचानक जापान के आक्रमण से शैकाई का द्वन्द्व प्रेम और कर्तव्य के बीच होता है तो कर्तव्य की विजय केन्द्रीय भाव बन जाता है। यह उस युग का प्रतिबिम्ब भी है और भट्ट जी की सार्वभौमिक व्यापक, उदात्त भावना भी। "रिफ्यूजी" कविता भी इसी प्रकार की संवेदना की लम्बी कविता है। युद्धकाल में सम्बन्धों का टूटना, प्राणरक्षा की त्रासदी का चित्रण है। भागते हुए लोगों की गति, बदहवासी और युद्ध की वीभत्स विकृति को भट्ट भाषा, अनुप्रास और ध्वनियों– बिम्बों से चरितार्थ करते हैं। पुराने छन्द, कवित्त, धनाक्षरी का प्रयोग सचमुच मात्रिक छन्द की लय का सौन्दर्य और काव्यार्थ से उसकी संगति का आभास कराता है –

धूम धूलि बम्ब-वज्रपूर व्योग रोम-रोम,
धरा भी थी वैसी धुन्ध-दावा का अखंड रोष,
भरे हुए पूर्ण घोष,
धांय धांय तोपों की,
प्रकम्प प्राणहीन तोष,
मानव थे सभी खिन्न,
भय और साहस,
विवशमति, अति गति,
नाचता हो काल मानों
जीवन से खेल-खेल।

हिन्दी के मूर्धन्य कवि तुलसीदास और रीतिकालीन कवि भूषण, ने लंकादहन और युद्ध वर्णनों में जिस प्रकार की शब्द-योजना, मूर्त चित्र, तीव्र लय, छन्द गति को लिया है— उसी परम्परा को भट्ट अपनाते हैं। केवल यहाँ स्वतन्त्र छन्द नहीं है— लम्बी कविता में आवश्यकतानुसार कवि भावाभिव्यक्ति, भाषा में एक स्वाभाविक बदलाव लाता है।

भट्ट जी का "युगदीप" 1939 का और "यथार्थ और कल्पना" काव्य संग्रह 1950 का है, जिसे उन्होंने "पूर्वापर" नाम से 1963 में संकलित किया। "युगदीप" में कुछ कवितायें युद्ध से पूर्व की और कुछ युद्धकाल की है। युद्ध ने किस प्रकार समाज, देश, मनुष्य को उसकी आर्थिक, राजनीतिक परिस्थितियों को बदल डाला है किन्तु उदयशंकर भट्ट का विश्वास "इमोशन" के अस्तित्व में है और नयी दिशा-दृष्टि के उदय में है। कवि के अनुसार "उसमें अपने को नयी परिस्थिति के अनुसार पहचानने की क्षमता भी आ रही है। इसी क्षमता का समर्थन युद्धकाल से पूर्व की ये मेरी कवितायें करेंगी।"

हिन्दी कविता का वह युग भी इनमें है जहाँ कवि भाषा की बनावट, वस्तु-विकास की शैली, नयी भावधाराओं, रंग मस्ती, प्रेम का अजस्र स्रोत, छायावादी कल्पना लोक और उसके बाद आते प्रगतिवाद, यथार्थवाद को अनुभव कर रहा है। छन्दों का बन्धन छोड़कर चलती कविता के प्रति कवि क्षुब्ध है और सम्पूर्ण चिंतित है। इसको भी वह विचारधाराओं का युद्ध, सामाजिक विषमताओं का युद्ध कहता है। भट्ट जी की विशेषता इस युद्ध के बीच भी मनुष्य को, करुणा, आनन्द, आत्मानुभूति, विवेक, समभाव को तलाशने में हैं। साहित्य को वह संघर्षो का युद्ध कहते हैं। पश्चिम के प्रभावों की भौतिकवादी चकाचौंध के बीच वह भारतीय तत्व को स्थापित करते हैं। इन कविताओं में उनका स्वर "सिद्ध का न होकर साधक का, उपास्य का न होकर उपासक का है—

धीरे-धीरे युगदीप जला।
अयजित शैशव के हास पिये, यौवन अतृप्त के श्वास पिये
मलयज दोलित मधुमास पिये,
पीकर भी हिम सा स्वयं गला – धीरे-धीरे युगदीप जला।

कहीं-कहीं छायावादी कवियों में – महादेवी वर्मा, निराला जैसी अनुभूति और अभिव्यक्ति भी है –

मैं अकेला और चारों और सूनापन
सो रहा है अंधेरे से
लिपट चंचल मन।

तो कहीं रात, जीवन और अनुभूति का प्रवाहपूर्ण लम्बा चित्रण –

सुनसान रात, गुपचुप तारे, एकान्त चन्द्र, नभ मूक भाव –
रे अलग अलग–
मानव का जग,
सब चुप ही चुप–
अंधेरा चुप,
केवल मेरा कवि रहा जाग,
ले ह्रदय आग वाणी विहाग

x x x

इस ओर मृत्यु-
उस ओर मृत्यु,
झकझोर रहा-
सब ओर मृत्यु
कुछ चौंक रहे कह वज्र गिरा,
मर रहे अंधेरे से टकरा।

ध्वन्यात्मक नाटक और कवि मानस की वेदना, अंधेरे, चुप्पी, मृत्यु के प्रतीक और भीतरी तड़प यहाँ दर्शनीय है। "यथार्थ और कल्पना" में भी मंगलाचरण और वन्दना संस्कृत के आधार पर प्रयोग एवं अद्भुत संगीत की एकतानता लिये है–

वीणावादिनि हे।
हे कुन्देन्दु-धवल-कल-वदने, कला प्रसादिनि हे।

तो स्वतन्त्रता का आनन्द, यौवन की, चिंगारियाँ, भी हैं – "ये तूफानी चरण जवानी के। प्रलय या घने तिमिर में भी न रुकने वाले कदमों की आग है। "आग

की लपटों में" लम्बी कविता भी है। आलोचकों ने "पूर्वापर" को "कवि जीवन के चरम यौवन कुसुम का उदय ग्रन्थ" कहा। भविष्यत् की प्यास, वास्तविकता के प्रति तीक्ष्ण दृष्टि, चरम विश्वासों के प्रति आस्था है। "दफ्तर का बाबू" कविता यथार्थ का चित्र है तो "साहित्यसृष्टा" में "लम्बी कविता युगयुगान्त के प्रति जागरूकता का प्रमाण है। सात साल की भयंकर बीमारी के बाद की "अचानक एक दिन की कविता" में कवि की ऊर्जा, अदम्य जीवनेच्छा और उमंग जैसे जी उठी है। काव्य के रूप कविताओं में प्रस्फुटित होते हैं। "कविता मानव के आवेग क्षणों का अन्तर्मथित पेन है, आवेग-उद्वेग, तृप्ति-अतृप्ति है। इसकी अनुभूति बराबर होती है। इन कविताओं में उत्थान-पतन का द्वन्द्व है।"

व्यक्ति की महत्ता और विशिष्टता का स्वर मनुष्य के दैन्य आक्रोश, घुटन, उत्थान और चेतना की अभिव्यक्ति "इत्यादि" (1961) काव्यसंग्रह में भी है। क्रम में इस छठे संग्रह में स्वयं कवि मानता है कि "इसमें भाव की दृष्टि से समय-समय पर अपना रूप बदलती रहीं हैं, संकलित हैं। यहाँ घुटन के स्थान पर एक प्रकार का संशयात्मक मन है, भटकाव और अशान्त ह्रदय की विकलता है–

अपराधी के शक्की मन की तरह भय से अस्थिर,
यह मेरा मन, चोर की तरह सशंक साँसों के
पंजों से चल रहा है ?

x x x

मेरे जीवन की पर्तें खुल रही हैं,
और मन हर पर्त पर सवार जीने की कहानियाँ ढूँढ रहा है।

स्वतन्त्रता के बाद नये समय का द्वन्द्व गूँजता हुआ दीखता है। कविता में छन्द की रवानगी भी दीखती है–

नये मोड़ पर आ खड़ा आज है नर,
पुरानी नयी चेतना से उलझ कर,
किसे वह भुलाये, किसे वह बुलाये,

x x x

गगन में चमकता हुआ चाँद आया, मुझे मत सुनाओ, मुझे मत सुनाओ
लेकिन इस संशय के बीच भी कवि दुर्बल नहीं है, वह अपनी शक्ति संजोता है-

तुम सजग सांस दो,
मुक्त मधुमास दो,

x x x

मैं हँसी सा खिलूँ,
दाह रवि का मलूँ,
सिन्धु की धार से गीत लूँ, जीत लूँ,
पर्वतों को दलूँ, रक्त के पथ चलूँ

जीने का अर्थ तलाशती यह लेखकीय व्यग्रता सर्वत्र है। वह निराला की तरह प्रयोग भी करना चाहते हैं और "कणिका" (1961) में मुक्तकों की रचना है। कवि को स्वयं नहीं पता कि मुक्तक लिखने की प्रेरणा उसे कब मिली– हो सकता है "इस प्रकार के मुक्तकों की प्रेरणा उर्दू से मिली हो। उर्दू में भी शेर और रुबाई के छोटे दायरे में तीखी और धर्म बेधी बात कह देने की पद्धति है। कैसे अचानक एक छन्द लिखने पर कवि को लगता है यह छन्द उसे आजमाना चाहिए। कबीर तुलसी, रहीम आदि में मुक्तकों के विभिन्न रूप हैं। मुक्तक की विशेषता एक भाव को एक ही श्लोक या मंत्र में कह देना है, जो वेदों और संस्कृत ग्रन्थों में भरपूर मिलते हैं। अपने नैराश्य, मानवीय चिंता और युगीन संवेदना को "कणिका" के मुक्त कणों में अनुभव किया जा सकता है–

उलझती गयी जिन्दगी की गिरह
न सुलझा सके एक भी तार हम
बिगड़ती गयी शक्ल इंसान की,
बनाते थे चित्र सौ बार हम।

अथवा

कब्र पर हँस रहे हैं हम बैठे
बेहया जिन्दगी मिली हमको।
सब तरफ मुसीबतों की न्यामत है
मौत की बंदगी मिली हमको।

"कणिका" के छन्दों में मृत्यु, भर्त्सना, अपमान, निन्दा के विरुद्ध आस्था, प्रेम, तपन, सृजन, संघर्ष की कविता भी है। कल के सपने और वर्तमान का संशय दोनों है। केवल शब्द-योजना और अभिव्यक्ति में जैसे उसका कवि मानस निश्चित नहीं है। कभी संस्कृत निष्ठा और छायावादी काव्य है– साहित्य के मकरंद, सुरभि, "हृदय से उठता हृदय का द्वन्द्व", "कभी उर्दू रुबाई जैसी संरचना और शब्द, कभी हिन्दी में तुकबन्दी अथवा नया कहने में कुछ असहज प्रयोग भी।

अपने मन की किरणों से द्योतित भू पर
बस, नए चाँद का चँदोबा हनने दो।

उदयशंकर भट्ट की इस बीच कुछ रचनायें ऐसी है, जिन्हें लघुकाव्य या नाट्यकाव्य के रूप में देखा जा सकता है– "कौन्तेय कथा" (1950) और "अन्तर्मन्थन" (1963) भट्ट के काव्यसंग्रहों की तुलना में आज के सन्दर्भ में और सर्जनात्मक दृष्टि से भी अधिक महत्त्वपूर्ण रचनायें हैं। व्यासरचित महाभारत की कथा पर आधारित "कौन्तेय कथा" को प्रबन्धकाव्य भी कहा गया है सम्भवतः उसके औदात्य, गांभीर्य, व्यापक लक्ष्य के कारण। कुछ पाठकों ने खंड काव्य की संज्ञा भी दी, महाभारत की कथा के एक खण्ड पर आधृत होने के कारण। वस्तुतः बाह्य रूप की दृष्टि से यह खण्डकाव्य ही है पर अपने आंतरिक विराटत्व और संगठन की दृष्टि से प्रबन्धत्व की अनुभूति कराता है। कवि वर्तमान युग में जातिवाद, वर्गभेद, ईर्ष्या, द्वेष, हिंसा, अधर्म, अन्याय पर विजय प्राप्त करने के लिए "शिवसंस्कृति" को पुनः प्रतिष्ठित करना चाहता है– "शिव संस्कृति" इस समय समानता, एकता, ऊँच-नीच के भाव से रहित एक विश्वास था जिसने इस समय सम्पूर्ण देश में शान्ति, मर्यादा की स्थापना की। प्रस्तुत काव्य में मैंने शिव तथा अर्जुन की कथा द्वारा इस संस्कृति का चित्रण करने का प्रयास किया है। अर्जुन को महादेव द्वारा पाशुपत अस्त्र दिया जाना और कौरवों को जीतकर न्याय की प्रतिष्ठा करना इस काव्य का विषय है। संस्कृत में भारवि ने "किरातार्जुनीय" में इस कथा को लिया है, लेकिन उदयशंकर भट्ट की स्थापना है कि "मैंने हिन्दी में इसे नवीन दृष्टिकोण से लिखने की चेष्टा की है। प्रथम सर्ग "हिमालय वर्णन" में हिमालय को शिव और शिवसंस्कृति का मूल स्रोत मानकर उस पर उत्पन्न मनुष्य सृष्टि का वर्णन किया है। शेष कथा महाभारत के आधार पर है। हिमालय वर्णन के बाद भीम, अर्जुन, द्रौपदी का द्वैतवन में निवास, फिर अर्जुन का तप, इन्द्र का आगमन और अर्जुन का इन्द्र से वनवास के कष्टों की कथा, आगे इन्द्र द्वारा शिव की आराधना का उपदेश और अन्त में "युद्ध और वरदान" के अन्तर्गत अर्जुन का किरात से युद्ध किरात रूपी शिव का युद्ध और वरदान- यह इसका कथाक्रम है। "कौन्तेय कथा" कथात्मक काव्य है। पूरी संरचना कथन शैली में कथा की तरह हुई है जिसमें नाट्यात्मक प्रवाह, उतार-चढ़ाव, गत्यात्मक सौन्दर्य है। सहजता और नाटकीयता का कथात्मकता और काव्य का अन्तर्ग्रथन जाहिर करता है कि कवि रचना की प्रकृति, उसकी मौलिकता, पाठक/श्रोता/दर्शक से प्रत्यक्ष संवाद और प्रभावशीलता को पूरी तरह अनुभव कर रहा है। अतिरिक्त जटिलता से यह कृति कहीं भी बोझिल नहीं है बल्कि प्राचीन परम्परा और आधुनिकता को जोड़ने की बेचैनी अवश्य व्यक्त होती है। यही काव्य "विजय पथ" के नाम से (1950 प्र.सं.) प्रकाशित हुआ था। बाद में इसका द्वि. सं. 1962 में "कौन्तेय कथा" के नाम से निकला। यह भी इसकी लोकप्रियता का प्रमाण है।

आधुनिक संवेदना, प्रयोगशीलता, मौलिकता की दृष्टि से "अन्तर्मन्थन" आज भी विशिष्ट और समकालीन अर्थ में प्रासंगिक, अभिनेय नाट्य काव्य है। 1958 में यही "अन्तर्दर्शन : तीन चित्र" नाम से प्रकाशित हुआ था। "अन्तर्मन्थन" कवि की समग्र रचना यात्रा, उनके समूचे आन्तरिक मंथन का भी परिणाम है– "चिन्तनजनित मानस मंथन का काव्यचित्र"। कवि ने चार पात्रों को चुना है– कैकेयी, रावण, वैदही, राम, चारों पात्रों के अलग-अलग आत्मालाप उनके आन्तरिक, द्वन्द्व, अन्तर्मथन के पृथक्-पृथक् चार लघु काव्य भी हैं और संश्लिष्ट काव्यरूप भी। ये निश्चय ही वाल्मीकि और तुलसीदास द्वारा रचित पात्रों से भिन्न नयी कल्पना : नवीन मानवीय चेतना द्वन्द्व के चरित्र हैं। उनमें कवि के "चुने हुए क्षणों का इतिहास नहीं है"– कवि की कल्पना, विचार, अनुमान और रचनाशीलता उन्हें महाकाल की सीमाओं से निकालकर उनके मानवीय अन्तर्दर्शन को चित्रित करती है। कवि इन्हें साहित्यशास्त्र में प्रतिपादित खण्डकाव्य न मानकर स्वयं इन्हें "लघुकाव्य" नाम देता है – वैसे आज इन्हें लम्बी कविता भी कहा जा सकता है। "कैकेयी" वस्तुतः चित्रकूट में राम, सीता, लक्ष्मण को वनवासी रूप में देखने के बाद समय-समय पर अभिव्यक्त कैकेयी के अन्तर्मथित उद्गारों और चिंतन का काव्यचित्र है :

जाने यह क्या हुआ मुझे हैरान मैं,
यह अनचाही घटना कैसे घट गई ?

x x x

मैं जलती चलती हूँ क्षण क्षण विवश सी
जीवन के प्रतिकूल पंथ में अपथिनी,
यह अनन्त जीवन का उन्मादी दहन।

"रावण" के अन्तर्गत युद्ध में रावण के मूर्च्छित होने के बाद संज्ञा प्राप्त करके युद्धभूमि में लौटने तक का काल है जिसमें मूर्च्छा से जागते ही उसका आत्मालाप है। कविता सहसा अपने स्वभाव में तीव्र लय और उद्धत स्वर की हो जाती है। "कैकेयी" के छन्द-विन्यास, शब्द-योजना में मनश्ताप, पश्चाताप का स्वर है, प्रश्न है, नारी स्वभाव है, माँ की ममता भी है पर "रावण" में रावण का अहंकारी व्यक्तित्व, उद्धत, उग्र, उद्दण्ड स्वभाव और क्रोध है। अतः वहाँ छन्द-परिवर्तन, द्रुत लय, आकस्मिकता, ध्वन्यात्मक वैविध्य उसके चरित्र और कवि की अनुभूति एवं रचना-प्रतिभा को उजागर करता है। आत्म परिचय नाट्य, लोक और शास्त्रीय विधान, अभिनय के चारों प्रकारों का इतना सुन्दर स्वरूप और नाट्यशास्त्र में वर्णित सिर, नेत्र, हस्त आदि अंगों- उपांगों की प्रत्यक्ष अनुभूति

चकित करती है। संगीत, नृत्य, नाट्य ताल और भाव-अनुभाव का सुन्दर सामंजस्य है।

मैं लौहवाहु, क्रोधान्धकाल, मैं ज्ञानदीप्त, उद्दीप्त सूर्य,

x x x

मैं स्वयं क्रोध, मैं स्वयं काम, सौंदर्य स्वयं, मैं कलाध्यान

अथवा

झलमला उठे कुंडल, मयूर अंगद बांहों में ग्रसे और
उंगलियां मुट्ठियों में बदलीं, मुख रुधिर प्रभा से रसे और
उमड़ा मुख पर चिर अहंकार, दब गया ज्ञान सविवेक शुद्ध
उमड़े मुख पर अनुदार भाव, स्वार्थान्ध धूम से हुआ क्रुद्ध।

भाव और अभिनय का अन्तर्ग्रन्थन दृष्टव्य है। "वैदेही" लघु काव्य कथा में सीता के अन्तर्मन्थन का चित्र है जिसमें दूसरे वनवास के समय ऋषि वाल्मीकि के कहने से अपने पति के पास जाने को उद्यत होती है। राम भी यज्ञ के बाद सीता को स्वीकार करने के लिए उनके लौटने की प्रतीक्षा में उत्सुक थे किन्तु क्या यह हो सका ? इसी सूक्ष्म स्थिति को, सीता के द्वन्द्व को अनुशासित-मर्यादित लय में चित्रित किया गया है। "राम" में बालिबध, सीता के भू-प्रवेश, शम्बुक वध के कारण उद्विग्न राम अपने को दोषी भी नहीं मानते और संशयशील भी हैं।

"मेरी इस जीवन पुस्तक के परिच्छेद क्या भूल भरे हैं ?" उनके प्रश्नों का समाधान स्वयं कालपुरूष करता है - काल उनकी मनःस्थिति का उदात्त चिन्तन है, मन का दार्शनिक उद्भावन।

कालपुरुष हँस उठा, दिशायें काँपी, लहरे दिग्दिगन्त गिरि,
ठिठका पवन, गगन गरमाया, कहने लगा-सुन रहा क्या मैं ?

कालपुरूष और राम का संवाद तर्क और समाधान का है। उदयशंकर भट्ट ने चारों पात्रों के अन्तर्मन्थन को एक दिशा दृष्टि भी दी है। उदाहरणार्थ कैकेयी के मन में यह भाव आलोकित होता है कि राम, रघुकुल मेरे ही कलंक से पावन हुए, उनका गौरव बढ़ा। रावण की यह आत्म स्वीकृति कि रणक्षेत्र में यह जानूँगा तो कि-

रावण सम राघव एक और
हो सका जगत में दीप्तिमान।

कैकेयी और रावण के मूल चारित्रिक रूप, भाव से ही एक नयी भंगिमा को सार्थक अभिव्यक्ति देना भट्ट जी का रचना कौशल है। राम को अपने संशय का उत्तर अपने उदात्त व्यक्तित्व में ही मिलता है, सीता को धैर्य और महानता में ही।

अपने कवि जीवन के बत्तीस पैंतीस वर्षों के बाद कविता के कई युग देखने के बाद "मुझमें जो शेष है" (1965) काव्य संग्रह भट्ट जी के व्यक्तित्व और दृष्टि की अभिव्यक्ति है। नये विषय, नये प्रतीक ("सांप और मैं") छन्दमुक्ति यहाँ है। कवि ने बच्चन जी के आग्रह पर इन कविताओं की विधा और प्रवृत्तियों पर आत्मविश्लेषणात्मक विवेचन भी दिया है। भट्ट जी को इससे अवश्य आपत्ति है कि उनकी कविताओं को केवल "मानवतावादी", स्वच्छन्दतावादी घेरे में बन्द किया जाये। भट्ट आत्मविश्लेषण में अपनी समूची रचना-यात्रा को स्पष्ट करते हैं। विश्व-सन्दर्भ, प्रकृति की समग्र चेतना, विश्वयुद्ध के परिणाम, राजनैतिक पटल का संघर्ष सब कुछ होते हुए भी मानव उनके लिए सर्वोपरि है। उन्हीं के शब्दों में "मुझमें जो शेष है" की रचनायें समाजपरक कम, व्यक्ति की अनुभूतिपरक अधिक हैं। जो बात प्रभावित करती है कि वह मानव विरोधी प्रवृत्तियों पर गहरी चोट करते हैं। गिरगिट की तरह रंग बदलते विषैले मनुष्य से साँप उन्हें कहीं अच्छा लगता है क्योंकि वह जो है, सच्चा है। "सामंतवादी" पर वह नयी कल्पना और अप्रस्तुत लाते हैं। "आबनूस के चमकीले ताबूत में अन्तिम सांसी लाश सा बेजान बहुत सांकेतिक, सूक्ष्म चित्रण न करके उनका स्वभाव उस प्रकृति को अनुकूल शब्दचित्र खींच देना है जैसे "पुरातनवादी" में। "साहित्यस्रष्टाः मैं" में संवदेन समाज में साहित्यिक मूल्यों के ह्रास और राजनीतिक अभिरुचि इस अवमूल्यन, विसंगति का पूरा रेखाचित्र है। पश्चिमी मानसिकता का चित्र है। भट्ट जी के इन चित्रों से वेदना अधिक है, व्यंग्य नहीं। एक ओर देश की लड़ाई, हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष, सांप्रदायिक दंगों का व्यग्र स्वर है (आग की लपटों में) दूसरी ओर स्वतन्त्रता प्राप्त होने का अत्यन्त उल्लसित, उत्साही स्वर भी। इन लम्बी कविताओं का सौन्दर्य उनके अनुकूल लयविधान, ध्वन्यात्मकता, प्रवाह में है। कभी-कभी वे ऐसी शब्द-ध्वनियाँ, पौराणिक और लोक जीवन के स्वर ले आते है कि कविता लोक के निकट हो जाती है — सम्प्रेष्य, प्रभावशाली। राजनीति के गांडीव में नेतृत्व का स्वार्थ का जंग और गहरा हो गया। उसकी टंकार में अब अत्याचार, कदाचार के नगाड़ों के स्वर और जुड़ गये। "दफ्तर बाबू" में उसका खाका है, सामान्य जीवन की व्यथा है बीमारी, गरीबी, भुखमरी। एक ओर "महात्मा गाँधी" जैसी आस्थाप्रधान कवितायें हैं, दूसरी ओर "विद्रोही" कविता स्वयं कवि के प्राणों की कचोट है जो उसे समय के प्रवाह में अपने को अनुपयुक्त अनुभव करने से होती है :

कभी-कभी समय की धारा के प्रतिकूल
जो व्यक्ति पैदा होते हैं
वह मैं हूँ, मैं वही हूँ।

पर शिशिर को वसंत में बदल न पाने की पीड़ा के बाद भी कवि आशावान् है—

किन्तु मैं आऊँगा, निश्चय ही आऊँगा
नया वज्र लेकर
पीड़ा के दधीचि के प्राण का संबल लेकर
बवंडर सा आऊँगा।
मैं आऊँगा, आऊँगा, आ....ऊँ....गा।

जीवन की यह ललक, स्फूर्ति और नाट्य की यह पुकार भट्ट के व्यक्तित्व और काव्य-पकृति का प्रमाण है। भट्ट जी की कविता पाठक, श्रोता, दर्शक तीनों की कविता है। वह तल्लीनता, ऊर्जा, जिजीविषा की तन्मयता, अन्तर्बाह्य संघर्ष से उत्पन्न जीवट की कविता है, तटस्थ और एकान्त कविता नहीं। उसमें प्रत्यक्ष अनुभूति और आस्वाद का आनन्द आता है। भट्ट जी का काव्य अतीत, वर्तमान, भविष्य का काव्य है। उसमें आदर्शवाद, आदर्शवाद का ह्रास, यथार्थवाद सब है पर सबमें प्रधान है "मनुष्य"। बाद विशेष वहाँ नहीं है, है केवल समय और मनुष्य।

4

उदयशंकर भट्ट का नाट्य–सृजन

उदयशंकर भट्ट मूलतः कवि और नाटककार हैं। उनके नाटक राष्ट्रीय और सांस्कृतिक नाट्यधारा से जुड़े हैं। अपने सम्पूर्ण रचना-काल में उन्होंने लगभग बीस पच्चीस वर्ष नाट्यलेखन को ही नहीं दिये बल्कि राष्ट्रीय समस्याओं के सन्दर्भ में नाटक को अत्यन्त सशक्त विधा भी माना। नाटक के प्रति उनका स्पष्ट दृष्टिकोण था, उसके दृश्यात्मक पक्ष की ओर भी वह पूरी तरह सचेत थे पर रंगमंच के अभाव के कारण उनके नाटकों में कहीं-कहीं विषय और लक्ष्य की प्रधानता और अतिरिक्त कथन की अस्वाभाविकता मिलती है। वह हिन्दी के प्रथम गीति नाटककार भी हैं और प्रथम दुखान्त नाटककार भी। नाटक की प्रकृति को लेकर उनके लेख और निबन्ध भी अपने में महत्त्वपूर्ण हैं। भट्ट जी के एकांकी और रेडियो नाटक भी उनके व्यक्तित्व, दृष्टि और युग सन्दर्भ के प्रतीक हैं। समय के प्रति सजग और मनुष्य के प्रति संवेदनशील भट्ट जी यह अच्छी तरह समझ रहे थे कि "आज नाटककार को अपना कंटेण्ट बदलने की आवश्यकता है, वस्तु का रूप जीवनव्यापी बनाने की आवश्यकता है। केवल मनोरंजन प्रधान, समय बिताने वाले नाटकों का युग नहीं है। जबकि आज का युग पुरानी और नवीन की देहली पर खड़ा है तब हमें प्रकाश की आवश्यकता है। मनुष्य के अवचेतन और उप चेतन मन के भीतर की प्रवृत्तियों को कुरेदकर उन्हें अपने रूप को समझा देने की आवश्यकता है। आदर्श और यथार्थ का अन्तर केवल इतना ही नहीं है कि यथार्थ के द्वारा हम मनुष्य के गुण-अवगुण को प्रतिबिम्बित कर सकें। जरूरत है कि हम उन दोनों की मूलगत प्रवृत्तियों पर भी पूर्ण प्रकाश डालें। "(नाटक के प्रति मेरा दृष्टिकोण, साहित्य के स्वर, पृ.79) साहित्य में नाट्यविधा का दायित्व इसीलिए वह अधिक जटिल मानते हैं क्योंकि वह मानव जीवन का प्रतिबिम्ब है। जहाँ नाटक युग का प्रतीक है वहाँ वह स्वयं

अपने में भी एक प्रतीक है। उसकी सांकेतिकता जितनी ही तीक्ष्ण और जितनी व्यापक होगी उतना ही प्रभावशाली वह होगा।" निश्चय ही समय के साथ यह तीक्ष्णता, सांकेतिकता भट्ट जी के नाटकों-एकांकियों में आती गयी है। उनके विभिन्न प्रकार के नाटकों में उनके दृष्टिकोण और शैली, शिल्प, प्रयोगों और दृष्टि को समझा जा सकता है।

सांस्कृतिक और सामाजिक चेतना के नाटक

उदयशंकर भट्ट ने सांस्कृतिक और राष्ट्रीय चेतना से युक्त नाटक भी लिखे और सामाजिक चेतना के नाटक भी। भट्ट जी की प्रवृत्ति पौराणिक ऐतिहासिक विषयों में अधिक रमी है। विशेषकर आरम्भ में उन्होंने पौराणिक कथानक ही अधिक चुने। जयशंकर प्रसाद ने भारतीय इतिहास के स्वर्णकाल, अतीत के गौरव को चुना और भट्ट जी ने पुराणकाल और प्राचीन संस्कृति को, साथ ही इतिहास को भी। वैयक्तिक चिंताओं से राष्ट्रीय चिंताओं की ओर बढ़ते हुए उनका दृष्टिकोण कई नाटकों में व्यक्त होता है। ऐतिहासिक नाटक "विक्रमादित्य" (1933) में विक्रमादित्य की चतुरता और पौरुष की, उसके जीवन की झाँकी देकर, उसमें पश्चिम की संघर्ष प्रधान नाट्यशैली का प्रयोग करके उन्होंने अपनी प्रतिभा की झलक-सी प्रस्तुत की, लेकिन "दाहर" (1933) में उन्होंने व्यापक सन्दर्भों और समस्याओं को उठाया। सिंधराज दाहर अपने राज्य में शान्ति व सुरक्षा के लिए छोटे-छोटे राज्यों को पुनः अधिकार देना चाहता है। वह अपनी योजनाओं में सफल नहीं हो पाता बल्कि सिंध पर चढ़ाई होने पर ज्ञानबुद्ध के षड्यन्त्र से और उसके देशद्रोही रूप से न केवल सिंध का पतन होता है बल्कि दाहर की मृत्यु भी होती है। "दाहर" दुःखान्त नाटक है और इस आधार पर भट्ट जी को हिन्दी का प्रथम दुःखान्त नाटककार कहा जाता है। इस नाटक में नाटककार एक ओर देशद्रोह को विनाश के कारण के रूप में प्रस्तुत करना चाहता है, दूसरी ओर संकीर्ण मानसिकता, वर्ण-भेद और प्रान्तभेद से उत्पन्न अलगाव को भी दिखाना चाहता है। धर्म के नाम पर पाखंड और द्रोह, रूढ़िवादी दृष्टि और अज्ञानता-जड़ता को लेखक ने परतन्त्रता के मूल कारण के रूप में दिखाया है। ब्राह्मणों के प्रपंच और बौद्धों के देशद्रोह के कारण ही सिंध-पतन हुआ। लेखक इसे एक राष्ट्रीय अपराध के रूप में प्रस्तुत करता है। इससे अधिक व्यापक अर्थ में "शकविजय" (1959) में वह राष्ट्रीय नैतिकता का आह्वान करते हैं। यह सिद्ध करना चाहते हैं कि "आज देश धर्म से भी महान है, व्यक्ति और समाज से भी बृहत्तर है। इस भावना को जागृत करने की आवश्यकता है। देश की स्वतन्त्रता, उसका सुख सर्वोपरि है, इस प्रकार के विचारों के प्रचार में जो मानसिक असंतुलन उत्पन्न होते हैं– उनमें हमें किसको स्वीकार करना

चाहिए और किसको अस्वीकार, इत्यादि बातों को पाठकों तथा सर्वसाधारण के सामने देखने के हेतु स्वरूप मेरा यह क्षुद्र प्रयत्न है।"

डॉ. विष्णु अम्बालाल जोशी की लघु कथा "शकविजय" पर आधारित इस नाटक की कथावस्तु शकों और भारतीय योद्धाओं के संघर्ष और राजा गन्धर्वसेन के चरित्रोत्कर्ष पर केन्द्रित है। भारत पर शकों के आक्रमण के बुनियादी कारण ब्राह्मण-जैन के साम्प्रदायिक संघर्ष को उन्होंने कथानक का अंग बनाया है। यह कथा जैन ग्रन्थों, स्कन्द पुराण और भविष्य पुराण में अलग-अलग रूप में मिलती है अतः इसे कल्पित समझा जाता था, पर बाद में काशी प्रसाद जायसवाल, जैन मुनि कल्याण विजय आदि विद्वानों ने इसे ऐतिहासिक सत्यता प्रदान की। उदयशंकर भट्ट "शक विजय" में संघ शासन का, गणतन्त्र की स्थापना का, और विदेशी शासन के स्थान पर स्वदेशी शासन का जो आदर्श प्रस्तुत करते हैं, वही नाटक का लक्ष्य है।

"सगर विजय" (1934) भी अपने पौराणिक परिवेश में आधुनिक है। दुर्दम के अत्याचारों के विरूद्ध प्रजा का विद्रोह जहाँ इस नाटक की नवीन चेतना है वहीं सगर का अपनी माँ को प्रसन्न करने के उद्देश्य से आजीवन राष्ट्रहित और राष्ट्र-सेवा की प्रतिज्ञा करना भी ऐसा प्रसंग है जो भट्ट जी के व्यक्तित्त्व का चिरपरिचित अंग रहा है। आतंक पूर्ण नीतियों के विरुद्ध विद्रोह आधुनिक स्वर है। "मुक्तिपथ" (1944) नाटक में भी किसी भी राष्ट्र के ध्वंस और पतन के कारणों में धार्मिक कट्टरता और संघर्ष को माना है। अपनी आत्मा में भारतीय होते हुये भी उनके ये नाटक वर्तमान की चिंताओं से शून्य नहीं हैं। रूढ़ परम्पराओं, जीर्ण प्रथाओं के दोषों के प्रति वह पूर्णतः जागरूक हैं। "मुक्तिपथ" को अपना तीसरा ऐतिहासिक नाटक कहते हुए भट्ट जी उसके मूलाधार में "गौतम का ऐतिहासिक विकास" बताते हैं और उसे मूलतः रोमांटिक और विचार प्रधान नाटक कहते हैं— उनका स्वर है कि "अन्धानुकरण मत करो, सोचो, प्रयोग करो।" लेखक वस्तुतः बुद्ध को उनकी चारित्रिक दृढ़ता और आत्मज्ञान की भारतीय विशिष्टता के कारण विश्व के लिए अनुकरणीय मानकर उनके व्यक्तित्व और दर्शन पर नाटक लिखना जरूरी मानता है। भट्ट जी ने भारत के सामन्तयुगीन इतिहास की कथा ली और प्रसिद्ध कथाओं को न लेकर अनजानी कथाओं को लिया और उनसे राष्ट्रीय पतन और सांस्कृतिक चेतना के अवसान के मूल कारणों को अभिव्यक्त किया। ये पौराणिक ऐतिहासिक नाटक मानव जीवन के व्यापक सत्य के उद्घोषक हैं और वर्तमान काल के संघर्षो - संकटों में आज भी एक चेतावनी हैं -- प्रेरक हैं।

व्यापक युग-सत्य का चित्रण भट्ट जी के सामाजिक नाटकों की भी विशिष्टता है जिनमें वर्तमान जीवन के व्यक्तिगत और समाजगत संघर्षों एवं समस्याओं का सूक्ष्मांकन है। "कमला" नाटक में आज के समाज की, जीवन की उलझनों, रहस्यों और पहेली बनते जाते मानव-चरित्र का उद्घाटन है। मूल समस्या अनमेल विवाह की है – युवती कमला का वृद्ध देवनारायण से विवाह। अनमेल विवाह दुःख का कारण है। वृद्ध पति सदैव कमला पर संदेह करता है, यहाँ तक कि उसे चरित्रहीन मान लेता है। इस आत्म-वेदना से आहत होकर कमला आत्महत्या कर लेती है। नायक देव नारायण की दृष्टि में नारी केवल उपभोग की सामग्री, जीवन का सामान्य उपकरण मात्र है। जबकि कमला शिक्षित आधुनिक युग में पली, नारी-स्वातन्त्र्य की समर्थक युवती है। उसकी और देवनारायण की मानसिक भूमि में कई युगों का अन्तराल है। सामन्तयुगीन नारी विषयक भावना का आधुनिक युग की नारी भावना से संघर्ष नाटक में दिखाया गया है।

आधुनिक युग की नारी कमला सार्वजनिक कार्यों में भाग लेती है और देवनारायण इसे अनुचित मानता हुआ कमला को दुश्चरित्र समझ लेता है। पुरुष की अधिकार भावना और भोग-लिप्सा की तहों में दबा हुआ नारी का व्यक्तित्व कराहता है और विरोध के लिए चीत्कार करता है अतः प्रत्यक्ष रूप में नारी समस्या को, उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्व के प्रश्न को नाटककार ने उठाया है। "कमला" को यथार्थवादी पारिवारिक दुःखान्त कथा कहा जा सकता है। जमींदारी उन्मूलन के कारण उत्पन्न उलझनें, सामन्तवादी विचारधारा से उत्पन्न पारिवारिक, नैतिक समस्यायें, विघटन "कमला" के अंग हैं। परिवार के व्यक्तियों में अपने विचारों को लेकर संघर्ष है जो नैतिक विश्वासों का संघर्ष है। अपनी सैद्धान्तिक दृढ़ता के कारण कमला को आत्महत्या करनी पड़ती है। कमला के स्वतन्त्र आचरण के लिए माधवी और प्रतिभा द्वारा फैलाये अपवाद सामाजिक संकीर्णता के द्योतक हैं।

प्रथम अंक में ही दो घटनायें हैं – एक अनाथालय के अत्याचार से घबड़ाकर शशिकुमार का कमला की शरण में आना और दूसरी, पढ़ाई छोड़कर देश सेवा का व्रत लेकर पुत्र विश्वनाराण का घर लौटना। इन घटनाओं पर देवनारायण की प्रतिक्रिया से ही नाटक की समस्या आरम्भ होती है। दूसरे अंक में इन्हीं से उत्पन्न स्थितियों को पारिवारिक विघटन की दिशा में विकसित किया गया है। विश्वनारायण का जेल जाना और लोकपवाद से आहत कमला का शशि को लेकर गृहत्याग चरम सीमा है। आगे चलकर चोरी के अभियोग में शशि के पकड़े जाने की सूचना सुनकर कमला नदी में कूदकर आत्महत्या कर लेती है।

देवनारायण भी अपने बड़े पुत्र यज्ञ नारायण द्वारा उमा के कौमार्य-भंग की सूचना से आहत प्राण-त्याग कर लेता है। इस तरह यह पारिवारिक त्रासदी का नाटक लगता है, जबकि उसमें मर्यादावादी प्रवंचनाओं पर करारी चोट की गयी है। पूरे नाटक में दो विरोधी पात्रों की क्रिया-प्रतिक्रिया से, द्वन्द्व और मनःस्थितियों से नाटक इस तरह रचा गया है कि अभिनयात्मक भंगिमाओं और नाटकीय विडम्बना का अनुभव कराता यह नाटक अपने वैशिष्ट्य का भी आभास कराता है। उदयशंकर भट्ट के कई नाटकों से यह नाटक अपनी व्यंजनाओं, संरचना और संवेदना में प्रामाणिक और आधुनिक लगता है। वैसे नारी के असंस्कृत, अपरिपक्व स्वरूप पर भी भट्ट जी व्यंग्य करते हैं। "पार्वती" (1958) नाटक में आज की अर्धशिक्षित, पाश्चात्य वैभव में पली नारी पर, उसके अधूरे ज्ञान की विकृतियों पर चोट की है। गुलाब इसी तरह की नारी है पर पार्वती अनपढ़ होते हुए भी मर्यादाओं, नये जीवन की जरूरतों के प्रति जागरूक है। नाटक में सामाजिक जीवन के विभिन्न पहलुओं का संघर्ष है, पर उसका स्वर निषेधात्मक नहीं है। उदयशंकर भट्ट ने यह अनुभव कर लिया था कि नाटककार को अपना कंटेण्ट बदलने की आवश्यकता है वस्तु का रूप जीवनव्यापी बनाने की आवश्यकता है। (नाटक के प्रति मेरा दृष्टिकोण : साहित्य के स्वर, पृ. 78) नारी की बौद्धिक जागरूकता का चित्रण "अन्तहीन अंत" (1937) में भी हुआ है पर वहाँ परिस्थितियों के आगे नारी झुक जाती है। समाज के साथ-साथ राजनीतिक पक्ष भी है। उनके "क्रांतिकारी" में स्वतन्त्रता संग्राम की राष्ट्रीय आन्दोलन से सम्बद्ध राजनीतिक समस्या है। यह नाटक अंग्रेज़ी सत्ता के विरुद्ध क्रान्तिकारियों के बलिदान की गाथा है। क्रान्ति की असफलता के कारणों पर भी क्रान्तिकारी विचार करते हैं। भ्रष्टाचार, चोरबाजारी, जातीयता, नौकरशाही, अस्पृश्यता जैसे दुर्गुणों की ओर संकेत किया गया है। "अम्बा" पौराणिक नाटक है किन्तु वहाँ भी आज की समस्या-वर्तमान काल से स्त्री पुरुष के संघर्ष और नारी स्वातन्त्र्य और उसके व्यक्तित्व अस्तित्व का प्रश्न, उसके अधिकारों का प्रश्न — अंकित किया गया है। इसमें भी नारी का पुरुष की अधिकार-लिप्सा के प्रति चिर-विद्रोह एवं प्रतिकार की भावना विद्यमान है। "अम्बा" में भी भीष्म, शान्तनु, शाल्व जैसे पुरुषत्व-दंभी नारी को केवल उपभोग्या समझते हैं जिसके प्रति अम्बा का स्वर बड़ा तीखा, कटु सत्य से भरा है। मूल भावना बड़ी तीव्रता से नाटक में उभरी है।

भट्ट जी कृत "नया समाज" (1955) भी उल्लेखनीय है। इसमें उन्होंने आज के परिवर्तित होते हुए समाज के भविष्य का चित्र देना चाहा है। नया समाज कैसा होगा ? उसका स्वरूप, उसकी मान्यतायें-आदर्श, नैतिकता, धारणायें क्या

होंगी ? मानव-मानव के परस्पर सम्बन्ध और अधिकार क्या होंगे ? आदि। यूँ जमींदारी प्रथा के उन्मूलन उससे उत्पन्न पारिवारिक समस्याओं को मूलाधार बनाया है। नाटक में कई समस्यायें हैं - यौन समस्या, जारज-समस्या, आर्थिक समस्या। सबमें उलझाव है कोई एक समस्या पूर्णतः उभर कर नहीं आ पाती।

भट्ट जी के पात्र पुराण, इतिहास और समाज के विविध क्षेत्रों के हैं। वे विविध कालों के, विविध क्षेत्रों के और युग-जीवन के प्रतिनिधि हैं। उनकी चारित्रिक विशेषताऐं युग विशेषताओं की प्रतीक हैं। ऐतिहासिक और पौराणिक पात्रों का चरित्र-चित्रण इन्होंने परम्परागत दृष्टि से ही किया है। नायक-नायिकायें सद्पात्र गुण और आदर्श के पुंज रूप में ही आते हैं। विक्रमादित्य, दाहर, सगर आदि भारतीय नाट्यशास्त्र के नियमानुसार धीरोदात्त, नायक हैं और "मुक्ति-दूत" का सिद्धार्थ धीर प्रशान्त नायक हैं। "शक-विजय" के वरद और गंधर्वसेन दोनों धीरोदात्त के गुणों-आदर्शों से युक्त हैं। इसी प्रकार शठनायक के रूप में सोमेश्वर, दुर्दम, नहपाल आदि पात्र धीरोद्धत स्वभाव के हैं। शठ पात्र-स्त्री-पुरुष दोनों ही - दुर्जन, कपटी-छली, क्रूर और प्रपंचबुद्धि हैं। भारतीय दृष्टि से नायक के प्रति सहृदय दर्शक की सहानुभूति, रुचि और मंगल-कामना होनी चाहिये और शठ पात्र के प्रति घृणा, अरुचि, अशुभ-कामना, रोष आदि। भट्ट जी की पात्र योजना और उनका चरित्र विकास इसी आधार पर है। अतएव साधारणीकरण के अनुसार उनसे रसानुभूति होती है। किन्तु साथ ही उनके पात्रों के पास मानव हृदय है। वह आशा-निराशा, प्रेम-घृणा, ईर्ष्या-द्वेष की हलचल से व्यथित-चिंतित होते हैं। मनोभावों का द्वन्द्व ही उन्हें मानवीय धरातल पर लाता है। विक्रमादित्य यद्यपि दार्शनिक, कर्तव्य के प्रति जागरूक, राज्य-भोग से उदासीन, काम-वासना से विमुक्त है किन्तु उसके हृदय में भी भावों का तूफान उठता है कि "भाई का भाई से भयंकर युद्ध, भ्रातृ-द्रोह, क्या इस विद्रोह-वह्नि में मैं स्वयं नहीं जल रहा हूँ ?" भाग्य ने मुझे बचा क्यों लिया। कहीं शत्रुओं के षड्यन्त्र में मैं पिस क्यों न गया।" इसी प्रकार "दाहर" में कासिम का, "मुक्ति-दूत" में शुद्धोदन का "कमला" में देवनारायण का और "शक-विजय" में आचार्य कालक का चरित्र चित्रण भावों का उतार-चढ़ाव, आन्तरिक हलचल के कारण बड़ा स्वाभाविक और प्रभावशाली हुआ है। "कमला" में देवनारायण का प्रथम स्वागत ही उसके उपचेतना में होने वाले द्वन्द्व की स्पष्ट झलक देता है।

भट्ट जी के नारी पात्र अपेक्षाकृत अधिक सजीव है क्योंकि उन्हें लेखक की सहानुभूति अधिक प्राप्त हुयी है। "विक्रमादित्य" की चन्द्रलेखा "दाहर" की परमाल और सूरज, "अम्बा" की विद्रोहिणी अम्बा, "सगर-विजय" की बर्हि आदि बड़ी

शक्तिमती, सप्राण, साहसी, त्यागमयी, चिंगारी की तरह सुलगती, नारियाँ हैं। बर्हि तो स्पर्धा, प्रतिहिंसा का उग्र रूप है। इसके साथ ही भट्ट जी की लेखनी ने यशोधरा, सरस्वती, सौम्या जैसी शीलवती, सुकुमार, भव्य और सौंदर्यमयी नारियाँ भी चित्रित की हैं। भावों के आरोह-अवरोह, विचारों के ऊहापोह और अन्तर्द्वन्द्व की दृष्टि से भट्ट जी के गीतिनाट्यों के पात्र विशेषतः विश्वामित्र, मेनका और मत्स्यगन्धा-जीवन्त हैं। अन्य नाटकीय गुणों और तत्वों को लाने, निबाहने की अपेक्षा भट्ट जी चरित्र-चित्रण में अधिक सफल रहे हैं। भोगे हुए अनुभवों और जिए हुए क्षणों की छाप उन पर है।

नाट्य-कला और अभिनय-पक्ष की दृष्टि से भट्ट जी अधिक सफल नहीं कहे जायेंगे। उनकी नाट्य-रचना प्रचलित नाट्य-परम्परा का पिष्टपेषण-सी है। उसके पीछे न तो कोई सशक्त प्रेरणा है न संचेतना। न उन्होंने नाट्य-कला-क्षेत्र में कोई स्थापना की है। उन्होंने प्रयोग तो अनेक किये लेकिन नाट्य-शिल्प पर अधिक ध्यान नहीं दिया। संस्कृत नाटकों के प्रचलित दोष, पारसी कम्पनियों का नाट्य-शिल्प, "प्रसाद" के नाटकों के दोष सब उनमें विद्यमान हैं। संस्कृत नाटकों जैसी प्रस्तावना का स्वरूप उनके "विक्रमादित्य" में दृष्टव्य है। उलझी हुई, अलंकार-प्रधान शैली में, नाटकारम्भ में नाटक का विषय प्रकट करने का चलन-संस्कृत में ही था। लम्बे-लम्बे भाषणों और स्वागतों की भरमार उनके नाटकों में है। एक के बाद दूसरा स्वागत-भाषण, दो-तीन पृष्ठ का स्वगत अस्वाभाविकता की चरम सीमा को इसलिए और भी छूता है कि उनका कोई उद्देश्य, कोई अनिवार्यता नहीं है। "प्रसाद" के स्वागतों के समान न तो वह घटना-विशेष के सूचक हैं, ना पात्र के मानसिक संघर्ष, दुविधा-देष आदि के प्रकाशक। प्रायः पात्रों का प्रवेश उन्होंने स्वगत के साथ ही कराया है। "विक्रमादित्य" और "दाहर" में स्वगत का भद्दा रूप असह्य प्रतीत होता है। यहाँ तक कि एक पात्र के स्वगत के बाद उसी के सम्मुख दूसरा पात्र तुरन्त विरोधी स्वगत कहता है। इससे अधिक स्वगत का मोह और क्या हो सकता है। यह अस्वाभाविकता "कमला", "शक-विजय", "मुक्ति-दूत", "नया समाज" आदि में कुछ कम हो गयी है। इनमें स्वगत कम भी है और सोद्देश्य भी।

पद्यात्मकता और गीतों ने उनके नाटकों को बोझिल, कृत्रिम, हास्यास्पद बना रखा है। पारसी रंगमंचीय नाटकों के समान संवाद के बाद पद्य बोलने का प्रचलन जगह-जगह पर है। "दाहर" में यह दोष बहुत है। दो पृष्ठ के लम्बे स्वगत-कथन के बाद दाहर का पद्य में बोलना रंगमंच की स्वाभाविकता के सर्वथा विरुद्ध है। कासिम को विदा देते समय दरबारी कवि का आशीर्वचन भी ऐसा ही है —

हे अरब, दुलारे जाओ, दुश्मन को खूब छकाओ,
निज देश, धर्म की रक्षा करना, बढ़-बढ़कर लड़ना।

यहाँ तक कि काल-सीमा का अतिक्रमण करके भट्ट जी ने "दाहर" के पात्रों से भारतेन्दु और बेनी के पद्यों को बुलवा दिया है। प्रसाद की काव्यमयी रंगीनी, गीतात्मकता-पद्यात्मकता को उन्होंने अपनाया तो किन्तु उनके पद्य, गीत और काव्यमय भाषा उस स्तर को कहाँ छूते हैं। गीतों की योजना भी उन्होंने बड़ी अस्वाभाविक रीति से की है। एक तो गीत अधिक हैं, दूसरे समय-असमय, उपयुक्त-अनुपयुक्त स्थल पर किसी भी पात्र से गीत गवा दिये गए हैं। यहाँ तक कि दृश्य का आरम्भ गीत से हुआ फिर लम्बा स्वगत, फिर वही पात्र गाने लगा और दृश्य इसी में समाप्त हो गया। दूसरे दृश्य का आरम्भ पुनः गीत से किया गया। लगता है कि नाटकत्व और रंगमंचीयता का कोई ध्यान ही नहीं रखा गया है। उन गीतों का कोई उद्देश्य भी नहीं है -- न चरित्र, कथा, न वातावरण और न नाटकीय स्थल के लिए वे उपयोगी हैं। यही नहीं, संगीत और गीतिकाव्य की दृष्टि से भी वे "प्रसाद" के गीतों जैसे नहीं हैं वरन् अगेय और संगीत, स्वर, भाषा, ताल, लय की दृष्टि से दूषित हैं। कहीं-कहीं गीत भी केवल पद्य बनकर रह गए हैं। "सगर-विजय", "कमला", "मुक्तिदूत" "नया समाज" में पद्यात्मकता और गीतों की अस्वाभाविकता उतनी नहीं है। "कमला" में केवल एक ही गीत है। गीत भी राग-ताल-लय से युक्त, स्वर और भाषा की स्वच्छन्दता से पूर्ण एवं वातावरण या नाटकीय स्थिति की माँग के अनुरूप हैं वैसे अन्य नाटकों के अधिकतर गीत भाषा की दृष्टि से इतने बोझिल, लयहीन, समासयुक्त, माधुर्य-रहित हैं कि उन्हें संगीत-स्वरों में बाँधना ही असम्भव है। इसके विपरीत भट्ट जी के "गीतिनाट्य" काव्य और संगीत के कलात्मक पुंज हैं। उनके गीत न सिर्फ परिस्थिति, पात्र, समय, वातावरण और संगीत के अनुरूप सुन्दर, मधुर उपयोगी हैं वरन् पूरा नाट्य गीतिमय है। पता नहीं उपर्युक्त नाटकों के गीतों में ऐसे दोष कैसे आ गये ?

भट्ट जी के नाटकों की भाषा और संवादों की भी यही दशा है। संस्कृत शैली के भार से उनकी भाषा इतनी लदी है कि नाटक के, रंगमंच के, अभिनय के वह सर्वथा विरुद्ध है। शब्दों का आडम्बर, अलंकारों का उलझाव संवादों को अस्वाभाविक बनाता है, उनके उच्चारण में वांछित प्रवाह और आरोह-अवरोह नहीं आ पाता। पात्र भाषा-जाल में उलझे लगते हैं अभिनयात्मकता दूर जा पड़ती है। संवाद विस्तृत भी हो जाते हैं किन्तु भाषा और संवादों का यह क्रमिक रूप भी धीरे-धीरे समाप्त हो जाता है। "कमला" के संवाद और भाषा सरल, स्वच्छ, प्रवाहमयी और नाटकोचित है। "विक्रमादित्य", "दाहर" जैसे नाटकों के बाद "कमला" की भाषा और संवाद देखकर विस्मय होता है कि एक ही नाटककार की

ये कृतियाँ हैं। "मुक्ति-दूत" और "शकविजय" की भाषा में गांभीर्य अवश्य है। किन्तु उलझाव, आडम्बर, कृत्रिमता और आरोपित गंभीरता नहीं। इनके संवाद अभिनयोपयुक्त, लघु और गतिशील हैं। यदि कहीं लम्बा संवाद है भी तो वह पात्र की मनःस्थिति का व्यंजक होने के कारण उचित ही लगता है।

भट्ट जी के नाटकों का प्रारम्भ भी अत्यन्त आकर्षक, कौतूहलपूर्ण नहीं होता। इसलिए उसका कोई प्रभाव सामाज के हृदय पर नहीं पड़ता। उनके नाटकों में आकस्मिकता का, अप्रत्याशित घटनाओं का, नाटकीयता का भी अभाव है जिससे नाटक में रोचकता नहीं आ पायी। नाटकीयता, आकस्मिकता, कार्य-व्यापार की तीव्रता, ऐसे गुण हैं जो नाटक को अभिनेय बनाते हैं। भट्ट जी के नाटकों में यह पक्ष भी शिथिल हैं। अन्त की दृष्टि से उनके नाटक सुखान्त भी हैं, दुखान्त भी और "प्रसादान्त" भी। अंक-विभाजन के सम्बन्ध में भी उनका कोई निश्चित नियम नहीं है। कई अंक हो सकते हैं, कोई अंक बहुत बड़ा और कोई छोटा भी हो सकता है (जैसा कि "शकविजय" में), किसी अंक में एक ही दृश्य हो सकता है, किसी में दो तीन दृश्य।

वस्तुतः प्रारम्भ में भट्ट जी की नाट्य-कला आत्मविश्वास के अभाव में डगमगाती हुई-सी, येन केन प्रकारेण नाटकों को सम्पूर्ण करती सी प्रतीत होती है। यद्यपि यह अवश्य आश्चर्य होता है कि उनके समय तक कितने ही श्रेष्ठतम नाटक प्रकाशित हो चुके थे, नाट्य-कला के नये मानदण्ड बन चले थे। फिर भी उन्होंने अस्वाभाविक प्रवृत्तियों को त्याग नाट्यकला के क्षेत्र में नयी "स्थापनायें क्यों नहीं कीं? धीरे-धीरे उनकी नाट्यकला विकसित होती गयी और पुराने दोषों को छोड़ती गयी है। कला-विकास की दृष्टि से उनका "कमला" नाटक उल्लेखनीय है। "शकविजय" और "मुक्तिदूत" भी उनके विकास-क्रम का बोध कराते हैं। रंगमंच पर पूर्णतः सफल होने योग्य केवल "कमला" नाटक ही है।

अभिनय का सम्बन्ध दृश्य-विधान से भी है। भट्ट जी के नाटकों का दृश्यविधान रंग-सज्जा आदि बहुत कठिन तो नहीं है किन्तु मंच की दृष्टि से बहुत प्रभावशाली भी नहीं है। "कमला" नाटक का दृश्यविधान भी उतना अभिनयोचित नहीं है जितना कि होना चाहिये था क्योंकि अब तक तो भट्ट जी की कला निखर चुकी थी। रंगमंच पर पात्रों की अधिक भीड़ भी अशोभनीय लगती है। "कमला" के अतिरिक्त अधिकतर नाटकों में भट्ट जी ने एक-एक दृश्य में कई पात्रों की उपस्थिति करा दी है जिससे नाटकीय सौंदर्य और रसानुभूति भी बाधित होती है, चरित्र-विकास भी नहीं हो पाता और व्यावहारिक दृष्टि से निर्देशक और संयोजक को भी कठिनाई होती है। ऐसा लगता है जैसे भट्ट जी को रंगमंच का अनुभव नहीं था, रंगमंच का पूरा चित्र उनकी कल्पना में नहीं था।

क्योंकि निश्चित रूप से इन नाटकों की तुलना में भट्ट जी के श्रव्य-नाटक, काव्य-नाटक और गीतिनाट्य अधिक संगठित, नाटकीय एवं प्रभावपूर्ण हैं। यह अतर्क्य सत्य है कि उनके गीतिनाट्यों का सौंदर्य अक्षय है। वहाँ उनकी कला चरम उत्कर्ष पर है क्योंकि भट्ट जी का "कवि" और "गीतकार" नाटककार की अपेक्षा अधिक सचेत था। गीतिनाट्य उनके लिए "अनुकूल क्षेत्र" था। वहाँ वह अपने ह्रदय की काव्यमयी स्निग्धता को, संगीत-प्रियता को उड़ेल सकते थे। हिन्दी नाट्य साहित्य को उनकी सबसे बड़ी देन- "विश्वामित्र", "मतस्यगंधा" आदि जैसे गीतिनाट्य ही हैं।

गीतिनाट्य

कवि, गीतकार और .नाटककार उदयशंकर भट्ट के गीतिनाट्य हिन्दी साहित्य की निधि है। वह हिन्दी के प्रथम गीतिनाटककार है। गीतिनाट्य उनके ह्रदय की काव्यमयता, कल्पना और कला के लिए अनुकूल क्षेत्र था। उनके साथ ही गीतिनाट्य, भावनाट्य, काव्य नाटक, पद्य नाटक का विवाद छिड़ा और आलोचकों ने काव्यनाटक को धीरे-धीरे एक अलग स्वतन्त्र रूप माना। बंगाल साहित्य की तरह यद्यपि हिन्दी में गीतिनाट्य, भावनाट्य की साहित्यिक और रंगमंचीय स्तर पर कोई अविच्छिन्न, समर्थ परम्परा नहीं बन पायी पर फिर भी भट्ट जी के "मत्स्यगन्धा" (1934) "विश्वामित्र" (1935) और "राधा" (1936) से ऐसे भावपूर्ण, गीतिप्रधान रचनायें मिलीं जिनमें घटनाओं एवं व्यापार के स्थान पर भावों का सहज प्रस्फुटन और नाटकीय शैली सम्पूर्ण सौन्दर्य के साथ उभर कर आयी। "अशोक वनवन्दिनी", "सन्त तुलसीदास", "गुरु द्रोण का अन्तर्निरीक्षण", आदि गीतिनाट्य नहीं हैं काव्य नाटक हैं। भट्ट जी ने भी ऐसा ही कहा है। चूंकि हिन्दी में रंगमंच की सत्ता नहीं थी और काव्य नाटक को अस्वाभाविक माना जाता था, उस समय रेडियो ही उन रचनाओं का सशक्त माध्यम था इसलिए उनके काव्य नाटक रेडियो नाटक के रूप में अपनी सार्थकता सिद्ध करते रहे। उपर्युक्त तीनों गीतिनाट्य मत्स्यगन्धा, राधा और "विश्वामित्र" की मेनका तीनों नारियों के अन्तर्द्वन्द्व पर आधारित हैं और वह अन्तर्द्वन्द्व उन्हीं का नहीं वरन् सम्पूर्ण नारियों के ह्रदय का है। तीनों यौवन-जनित-मदिर-अभिलाषा से उद्विग्न हैं, तीनों ही प्रेम-मार्ग की अनुवर्तिनी हैं। इस एक ही भाव-प्रेम को तीनों में अलग-अलग स्तरों पर दिखाया गया है। एक प्रकार से सारी ही कथावस्तु और पौराणिक पात्र प्रतीकात्मक हैं जिससे भट्ट जी ने नर-नारी के संघर्ष को, उनके सम्बन्ध की शाश्वत समस्या-प्रेम को प्रस्तुत किया है। इसमें "मत्स्यगन्धा" अत्यन्त सशक्त है। "मत्स्यगन्धा" के आरम्भ में भट्ट जी स्वयं लिखते हैं- "आज से तीन साल पहले "अंबा" नाटक लिखते समय सुतांकित मत्स्यगन्धा की एकान्त चिंतित और विवर्ण

आँखों, करुणा मंडित मुखाकृति सर्वाकार से मेरे ह्रदय प्रदेश में घर कर गयी थी। विश्व के इतिहास में कदाचित ही कोई ऐसी निरपराध अपराधिनी हो यौवन के महासागर से केवल कदर्थना, करुणा, कुत्सा, व्यंग्य, पीड़ा, ही जिसके हाथ आयी हो। उसी जड़ित विदग्धा का यह चित्रण आयास है भावनाट्य के रूप में। . . . मैं विश्वास करता हूँ कि "मत्स्यगन्धा" के सम्पूर्ण जीवनोच्छ्वास पुंजीभूत होकर भविष्य के नारी युग-निर्माण में "टार्च" का काम देंगे और नारी अपनी चेतना के पल्ले में एक गांठ बांध लेगी कि वह क्या से क्या हो गयी है।" 1934 में भट्ट जी द्वारा कही गयी यह बात उनकी सघन संवदेना और चिंता का परिचय देती है। नाट्य का प्रारम्भ ही प्रकृति के उल्लसित सौन्दर्य को देखकर अपने ह्रदय की सिहरन और गौरव की प्रथम लहर से चंचल, एक अनजानी हूक से पीड़ित मत्स्यगंधा के मादक स्वरूप से होता है। उसके अपने अंग-अंग में, प्राण में, ह्रदय में एक निर्मल आनन्द तरंग-सी उठने लगती है जिसके आगे सारा विश्व, सारी धर्म नीतियाँ उठने को होती हैं। ह्रदय मचलकर कहता है —

> कौन जानता है, कौन सोता मेरे पास छिप
> जान सकना कठिन। किन्तु, देखती यही कि कोई
> राग सा बजाने मेरे प्राणों की बीन पर
> चल चल आता है।

अपनी इसी प्रमत्त गति और मति के प्रवाह में अकस्मात् अपनी वास्तविकता को याद करती हुई वह कहती है कि मैं तो नायिका हूँ, केवट की बेटी हूँ किन्तु यौवन की मदिर आकांक्षा फिर उभरती है-

> . . . नहीं, लहर सी मुक्त हूँ मैं।

और इसी संघर्षमयी स्थिति में अनंग का प्रवेश होता है। अनंग अपना परिचय देता है-

> मैं अनंग विश्वरंग
> . . . .
> यौवन में तृप्तिहीन तृष्णा, प्ररोहलेम।
> सैकड़ों वसंत हास,
> प्रणयों में पीड़ित ह्रदय का अवर्ष्य छन्द।

अनंग एक प्रकार से उन्मुक्त कामनाओं का प्रतीक भी है जिस पर मनुष्य का वश नहीं चल पाता। अनंग उसे चिर यौवन का वरदान देना चाहता है किन्तु मत्स्यगन्धा एकदम चौंककर जैसे कह उठती है —

. . . ओ अनंग, ओ अनंग
मैं दरिद्र केवट की बेटी हूँ उपाय हीन।
एक उल्कापात सी निरर्थ धरा धाम पर।
छोड़ दो मुझे न व्यर्थ, पात्र करो हे अनंग,
यौवन-चषक का अनन्त-मद नव-नव।
क्या करूँगी लेके इसे असहाय दीन-हीन
कहीं नाव डूबे न, ...

अनंग उसे समझाने का प्रयास करता है और "कब प्रिय अवसर मिलता है बार बार", कहकर चला जाता है। वस्तुतः यह मत्स्यगन्धा के हृदय में यौवन की अदम्य अभिलाषा और उसकी अपनी स्थिति के मध्य के द्वन्द्व की दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर और सफल है। अनंग से उसका वार्तालाप वास्तव में उसके हृदय की उथलपुथल की पूर्णतः मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्ति है। "अनंग प्रदत्त अवय यौवन के वरदान की प्रथम अस्वीकृति मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भोग-वृत्ति का दमन है।" (भारतीय नाट्य साहित्य : लेख "नाटककार उदयशंकर भट्ट" डॉ. विश्वनाथ भट्ट, पृ. 348) अतः अनंग का प्रस्थान अर्थात् अभिलाषा का दमन मत्स्यगन्धा के हृदय को यौवन-लालसा से और भी अधिक उद्वेलित कर देता है। उसे अपना चित्त घूमता सा और "निखिल रोम राजियाँ" काँपती-सी प्रतीत होती है। यौवन की छाया से, सिहरन से, शत-शत मद-नद से, हाहाकार से उसे अपना रोम-रोम, अंग-अंग प्राण-प्राण भरा सा लगता है और लगता है कि–

. . . पद गति हीन हुए।
छन्द यति हीन हुआ, मति हीन मति है।

मत्स्यगन्धा की मानसिक स्थिति, नाटकीयता, छन्द के वेगमय रूप और काव्य-लय की दृष्टि से यह स्थल अनुपम है। डा. बच्चन सिंह के शब्दों में ताल पर गिराते हुए सम की भाँति, गीत की बुझती हुई गूँज की तरह स्वयं दृश्य परिसमाप्ति की सूचना देता है।" (हिन्दी नाटक, पृ. 177)

दूसरे दृश्य में वृद्ध ऋषि पराशर "शीघ्रतर पार पहुँचाने की बात कहते हैं तब मत्स्यगंधा का यह वाक्य–

जीर्ण नाव, शीर्ण बल, अनिल प्रबल

उसकी मानसिक दशा को व्यक्त करता है। नाव में पराशर कामान्ध होकर रति का प्रस्ताव करते हैं। सामाजिक मर्यादाओं और नैतिकता से भयभीत धीवर कन्या बड़ी विवशता से कहती है –

यह तो अनय प्रभो, कैसे मान लूँ मैं यह,
हीन जाति तो भी है समाज का अनन्त भय।
कैसे यह, आप ही बताइए, बताइए न ?

कितनी नाटकीयता और कितनी विवशता की अभिव्यक्ति है यहाँ पर ? कामान्ध पराशंर उसे धर्म का अनन्त रूप, उसकी परिवर्तनशीलता समझाते हैं किन्तु मत्स्यगंधा के लिए नारी का रूप-सौन्दर्य वरदान के साथ-साथ अभिशाप भी है। समाज में नारी की स्थिति पर जैसे स्वयं भट्ट जी बोल उठते हैं –

नारी के स्वरूप सुख-शोभा में छिपे हैं देव
संख्याहीन अभिशाप, संख्याहीन यातना।
. . . .
. . . नारी एक श्वेत पट सम
जिसमें तनिक बिन्दुपात भी कलंक है।

कितना स्पष्ट कहती है वह कि नारी के लिए तो अपयश, अपलाप ही है जो उसे जीते जी मार डालते हैं। अनादि काल से चले आते इन बन्धनों को तोड़कर अविधेय पथ पर अबन्ध होकर कैसे चल दे ? यहाँ मत्स्यगंधा का अहं काम के प्रवेग को बढ़ने से रोकना चाहता है। यह द्वन्द्व स्त्री के लिए स्वाभाविक है। पराशर उसे प्रकृति की स्वच्छंदता – पावस में बाँध तोड़ चलती सरिताओं का, नियम, समाज, विधान से अधिक नर के महत्व का प्रभावपूर्ण वर्णन करते हैं। यह जैसे मत्स्यगंधा का ही मन बोल रहा है, पराशर नहीं। मत्स्यगंधा जिसके मन में यौवन की लालसा और सामाजिक नियमों के बीच संघर्ष चल रहा है – पराशर के बचनों से यौवन-काम के उभड़ पड़ने पर जैसे एकदम घबराकर चौंककर पूछती है –

किन्तु ऋषि, कन्यकात्व ?
पराशर– वह भी कलंकहीन।
मत्स्यगंधा– मानवीय होगा क्या ?
पराशर-री, नर तो सदा अदोष।

और फिर डगमगाती, बहकती मत्स्यगंधा जब पराशर से यह सुनती है कि उसमें "चिर यौवन की साधना भरी है, तो वरदान मांगती सी जैसे कह उठती है कि "जन्हुकन्या सदा यौवन ही दीखती है, क्या उसका यौवन . . . ।" अन्तः संघर्ष का स्थल पुनः उपस्थित हो गया। पराशर वरदान देते हुए कहते हैं-

. . . . . . किन्तु, नारी प्रिय भी
सदा न प्रिय लगता है . . .

मत्स्यगंधा अब कुछ नहीं सुनना चाहती। हाथ जोड़कर कह देती है कि वह उसे इष्ट है। यौवन ही उसका साध्य है, वही उसे काम्य और वरेण्य है। पराशर के "एवमस्तु एवमस्तु" कहने पर वह भी "एवमस्तु प्रियतम" कह देती है। मत्स्यगन्धा के आत्म-समर्पण को कितनी सहज परिस्थिति में कितने सांकेतिक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। चारों तरफ घना अंधकार छा जाता है, नाव स्थिर हो जाती है और उस अंधेरे में पहले के दृश्य की संघर्षमयी स्थिति के सूचक संवाद गूंजते रहते हैं-

एक आवाज - नाथ, यह कन्यकात्व ?
दूसरी आवाज - वह भी कलंक हीन।

धीरे-धीरे आवाज धीमी हो जाती है
पहली आवाज- क्या न मेरा यौवन ?
दूसरी आवाज-अनन्त सुख शशि युत।
-किन्तु प्रिये, प्रिय भी सदा न . . .
पहली आवाज-प्रिय रहता है नाथ, वही इष्ट मुझे
दूसरी आवाज-एवमस्तु, एवमस्तु-
पहली आवाज-एवमस्तु, प्रियतम।

ये सम्पूर्ण वाक्य दोनों ह्रदयों की फिसलन, वासना के आवेग और अन्तिम समर्पण के द्योतक हैं इसीलिए बीच-बीच में फुसफुसाते से स्वर में कहे गये से प्रतीत होते हैं। नाटकीयता की दृष्टि से अत्यन्त सफल, सुन्दर स्थल है यह। पराशर और मत्स्यगंधा के मिलन में काम के आवेग और यौवन के चांचल्य से विकसित एकदम मनोवैज्ञानिक है। यह सारा दृश्य मत्स्यगंधा के अन्तर्जगत् की उथल-पुथल, उसके चेतन मन के विरोधी स्वरों को प्रस्तुत करने के साथ-साथ और भी अधिक सुन्दर इसलिए है कि नारी के आत्मसर्म्पण, पुरुष की कामान्धता को जिस संयम और जिस प्रभावशाली ढंग से अंधकार में गूँजती, धीमी पड़ती और फुसफसाती आवाजों के द्वारा प्रस्तुत किया है और वहीं पर उस दृश्य का अन्त कर दिया है, वह इतना नाटकीय है कि काव्य, नाटक, पात्र का अन्तर्द्वन्द्व, मनोवैज्ञानिकता सब संयुक्त हो उठे हैं। "यहां दृश्य की सघनता (टेंसिटी) एकदम चरमसीमा पर पहुँच जाती है।" (डॉ. नगेन्द्र, आधुनिक हिन्दी नाटक, पृ. 106)

चौथे दृश्य में अक्षय-यौवन के वरदान में भूली-मदमाती मत्स्यगंधा रोम-रोम में नवचेतना, देह में मद्द के उदधि का, अमृत आनन्द का अनुभव करती हुई, बीते हुए समर्पण-क्षणों को याद करती हुई सी और उससे भी अधिक अपने इस नए परिवर्तन पर विचार करती सी दिखायी देती है। पाँचवें दृश्य में वह सत्यवती के रूप में अपने चिर यौवन में अलबेली-सी घूमती यह कहती दीखती है कि —

"यौवन ही जीवन का एक मात्र ध्येय सखि।"

किन्तु अकस्मात् ही मृगया से लौटै महाराज की विक्षत संज्ञाहीन दशा की सूचना पाकर उसके अंग काँपने लगते हैं और उसकी इस आशंका के साथ दृश्य समाप्त हो जाता है कि –

सत्य ही क्या यौवन के अन्तर में कंकाल
नाचता है गुपचुप धूमिल सी देख डाल ?

और तभी छठे दृश्य में विधवा सत्यवती करुण पश्चाताप में लगती और हाहाकार करती दीखती है। जो यौवमं साध्य था, वही वैधव्य में अभिशाप प्रतीत होता है। उषा आग बरसाती हुई; रवि देह को भूनता हुआ, संध्या प्राण-तार खींचती हुई, यामिनी यम-गर्जना सी करती हुई प्रतीत होती है। अनन्त यौवना मत्स्यगंधा शरीर यंत्र नगर, धाम, नीले नभ, समस्त जगत को अलात सा घूमता "देखकर" विह्वल होकर, कातर वाणी में चीख सी उठती है –

ले लो यह वरदान।

लौटाओ, लौटाओ प्रभु, क्षण भी युगान्त है।

और तभी अनंग का प्रवेश होता है। अनंग का प्रवेश यहाँ बड़ा व्यंग्यात्मक और विधबा के जीवन की करुणा को और गाढ़ा करने वाला है। वह जैसे जले पर नमक छिड़कते हुए कहता है–

पियो, सुखमद यह यौवन का तृप्ति-हीन

. . .   .

पियो कंठ तक, पियो ओठ तक ढाल-ढाल

यौवन महान है, अलभ्य है जगत में।

मत्स्यगन्धा इस व्यंग्य से व्यथित होकर मनुहार सी करने लगती है कि–

लो लो यह वरदान, (ले लो यह अभिशाप)

लौटाओ अनंग यह वेदना समुद्र सी।

सीमा-हीन, अन्त-हीन, मन-हीन, प्राण-हीन

अनंग चला जाता है और अपने जीवन के इस अपरूप, अपमान पर वह बिलख उठती है। घिरे बादलों, घटाटोप अंधेरे में एकाकी वह पुकार उठती है–

डूबो नभ, डूबो रवि, डूबो शशि, तारिकाओं

डूबो धरे, वेदना में मेरी ही युगान्त की।

और उसकी मूर्छा के साथ नाट्यान्त हो जाता है। इस प्रकार यह काव्यनाटक यौवन की मदिर आकांक्षा का सामाजिक मर्यादाओं से संघर्ष दिखाता हुआ अन्त में उसकी पराजय दिखाता है। पूरे नाट्य में "काम" की स्वच्छन्दता का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सुन्दर प्रदर्शन हुआ है। काम के उद्वेग और सामाजिक अहं एवं नैतिक अहं का संघर्ष की कथा को विकसित करता है। जब तक मत्स्यगंधा की कामवासना अतृप्त है, दमित है तब तक वह काम की मनोवृत्ति से, अन्तर की उद्विनता से उलझी हुई है। उसे लगता है कि यह ग्रंथि सुलझेगी कि नहीं। तात्पर्य यह कि सारी कथावस्तु मनोवैज्ञानिक संबल लिए हुए है।

भावना का प्राधान्य, गीतिमयता, शिल्प आदि की दृष्टि से यह रचना सफल है। भट्ट जी की काव्य-कला ने गीति-तत्व, नाट्य-तत्व और मनोवैज्ञानिक गहराई से समन्वित होकर उसे सुन्दर बनाया है। नाटक का प्रारम्भ ही मधुर गीत गाकर, फूल चुनते हुए, प्रकृति के अनन्य मधु-सौंदर्य, आनन्द, मादकता के दर्शन और प्रभाव से मत्स्यगंधा की युवा कामनाओं को, भाव-विभोरता को, रोम रोम के मृद् कम्प को, काम के आवेग को, मन की बेचैनी को प्रस्तुत करना अत्यन्त स्वाभाविक और कलात्मक है। मत्स्यगंधा की काव्यमयी उक्तियों से उसका भावमय, कवित्वमय, व्यक्तित्वमय व्यक्तित्व ही नहीं उभरता वरन् सम्पूर्ण दृश्य ही कवित्वपूर्ण, गीतिमय-सा लगता है। मत्स्यगन्धा, सखी, सुभ्र और अनंग के संवाद जहाँ गीतिमयता, की गूँज लिए हुए है वहाँ कथानक को विकासोन्मुख करने के कारण गतिशील भी है, व्यर्थ का काव्यमय प्रलाप नहीं। मत्स्यगन्धा के हृदय-मंथन की अभिव्यक्ति इस दृश्य में गीतितत्व की विभूति लिए हुए है। दूसरा दृश्य संक्षिप्त होते हुए भी कथा को विकसित करता है, मत्स्यगंधा की मानसिक स्थिति को प्रकट करता है। चौथा दृश्य अत्यधिक सशक्त है। नारी-कामावेग से व्याकुल है, लज्जाशील है, पुरुष बौद्धिक है, तर्कों द्वारा स्वार्थ की सिद्धि करने वाला, जिन तर्कों को नारी का फिसलता-बहकता हृदय अनुकूल मानकर समर्पण कर देता है। दृश्य का अंत अतीव नाटकीय-सौन्दर्य, चारित्रिक विशेषताएँ मानसिक प्रक्रम और संवादों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। चौथे दृश्य में समर्पण के बाद का एकाकी चिंतनवादी स्वभाव भीरुता का सूचक है। उसका अहं इसे "अकर्म" मानता है। पाचवाँ दृश्य क्रीड़ा उद्यान में वीणा बजाती, प्राकृतिक सौन्दर्य के बीच गीत गाती मत्स्यगंधा के "असीम सुख की" और "अनन्त मधु" से भरे हृदय की अभिव्यक्ति प्रारम्भ में करता है और अन्त एक आकस्मिक झटके के साथ, एक आशंका के साथ होता है जो आगे आने वाली विपदा का एक संकेत है, छठा दृश्य उस विपदा के साकार रूप-विधवा सत्यवती की आत्मग्लानि, करुणापूर्ण चीत्कार एवं पश्चाताप को प्रकट करता है। पूरे गीति-नाट्य में नाटकीय गति है। संवादों में

तो नाटकीयता है ही, दृश्यों के समारम्भ और समाहन में भी नाटकीयत्व है। इसके अतिरिक्त कौतूहल, जिज्ञासा, आकस्मिकता, चरमसीमा जैसे तत्वों को भी अपनाया गया है। पाँचवें दृश्य तक कथा मदिर प्रभाव और अंतर्द्वन्द्व का सौन्दर्य लिए बढ़ती है। दृश्य के अंत में हल्की सी आशंका होती है और छठे दृश्य में एकदम, आशा के विपरीत नाट्य का मोड़ आता है जिसकी आकस्मिकता दृश्य के तार-तार को आश्चर्य, करुणा से अभिभूत कर देती है। कहीं कथा में शिथिलता नहीं आती और न कोरी भावुकता छलकती है। डॉ. नगेन्द्र के अनुसार "उसकी गति में काफी वेग है और परिणति का दृश्य नाट्य की दृष्टि से अच्छा है।" (आधुनिक हिन्दी नाटक, पृ. 107) डॉ. बच्चन सिंह ने भी गीतिनाट्य में सघन क्षणों (इंटेसिफायड मूमेंट्स) की अभिव्यक्ति के लिए इसकी सराहना की है।

कलात्मक दृष्टि से बिम्ब-योजना (इमेजेरी) का निखरा स्वरूप भी इसमें दृष्टव्य है। मत्स्यगंधा के भावों का गोचर प्रत्यक्षीकरण कराने में बिम्बों से बड़ी सहायता मिली है। अनंग का चित्र बिम्ब योजना के कारण ही संवदेनशील है—

गर्विता सुमालती में मदिर मदिर गन्ध
यौवन में तृप्ति-हीन तृष्णा, प्ररोहलोम।
किन्तु प्रिय मानव में . . . . . .
सैकड़ों वसन्तहास,
शत-शत उद्गार, शत-शत हाहाकार,
प्रणयों में पीड़ित हृदय का अवर्ण्य छन्द।

इस पूरे छन्द में ध्वन्यात्मक चित्र योजना— "शत-शत उद्गार, शत-शत हाहाकार" प्रत्यक्ष चित्र योजन और उसके साथ गन्ध, स्पर्श, रस का समन्वित सौन्दर्य भी विद्यमान है जिससे काव्य-सौष्ठव भी उत्पन्न हुआ है और पाठकों के सामने "काम" का एक चित्र भी। प्रथम दृश्य में मत्स्यगंधा द्वारा अनंग का सौंदर्य-वर्णन भी कवित्व-कला से मंडित है। अनंग के चले जाने पर मत्स्यगंधा की मनःस्थिति का प्रस्तुतीकरण कितना गीतिमय है—

इष्ट सा मिला हा, औ मिलन सा हुआ क्षणिक
कल्पना, छलावा सा, प्रवेग सा गया है छिप
या उमंग मन की थी, या तरंग जल की थी
या फुहार मेघ की सी झलकी, समा गयी ?

इस नाट्य में दो गीत भी हैं जो गेय मधुर और कवित्वपूर्ण है। पहला गीत "गन्ध विधुर मन्द पवन" प्रकृति सौन्दर्य और मन पर उसके प्रभाव का सूचक है। दूसरा गीत "मदिर मदिर यौवन उभार चल, मधुर मधुर मेरें सिगार पल"

यौवनोन्माद की तृप्ति के असीम सुख में इसी मत्स्य-गंधा की पुलक को प्रकट करता है। छन्द में भी बड़ी गति है।

"विश्वामित्र" की कथा वस्तु का आधार अनादिकाल से चला आता हुआ नारी का संघर्ष है। "विश्वामित्र" पौराणिक कथा पर आधारित होने पर भी प्रतीकात्मक गीतिनाट्य है। विश्वामित्र पुरुषोचित गुणों का, शक्ति और अहंकार का प्रतिनिधित्व करते हैं, मेनका माधुर्य प्रेम और संघर्ष का। इस प्रतीक को स्वयं भट्ट जी ने भूमिका में स्पष्ट किया है – "विश्वामित्र पुरुष हैं मेनका नारी और उर्वशी उन दोनों के मन का संघर्ष है। विश्वामित्र अहंकार है, बल है, शक्ति का प्रतीक है, अभिमान है और है नर। मेनका प्रेम है, कोमलता है, भाव-प्रबलता है, नम्रता है, स्फूर्ति है, जीवन है और है नारी।" इसमें कोई संदेह नहीं कि यह प्रतीक सम्पूर्ण व्यथा में निहित है। प्रारम्भ ही विश्वामित्र के पुरुष के - अहं से, शक्ति और अभिमान से - विश्व पर विजय पाने की अधिकार-लिप्सा के कारण समाधि लगाए बैठे विश्वामित्र के ओजपूर्ण वचनों से होता है। वे विराट् ब्रह्म, हरि, हर, इन्द्र, गंधर्व, यक्ष-किन्नर सभी को स्वयं रचने की अनन्त शक्ति से भरकर ऊर्जस्वी स्वर में कहते हैं –

कौन शक्ति, अथ कौन चाह दुर्लभ मुझे
नहीं मुझे अब कुछ भी है अज्ञेय जग
ज्ञेय तथा अति गूढ़ गिरा अभिसार-सा।

लेकिन पल भर नेत्र खोलने के बाद विश्व को सतत वश्य करने के लिए गहन समाधि लगा लेते हैं। तभी मेनका और उर्वशी अप्सरायें प्रविष्ट होती हैं। उर्वशी कुछ चिन्तित आधारहीन सी ही है जिसे अपनी "आशा वीथि शून्य" लगती है, जीवन में अंधकार सा लगता है, दूसरी और मेनका "जड़ विश्व के हृदय को मनोरम रागिनी से उन्मत्त करने वाली, प्रेम आनन्द के रस में डूबी, प्रकृति में पुलक हिलोरों और प्राणों के मद का अनुभव करती हुई सी बेसुध है। अचानक "हिम पुन्ज से" विश्वामिम्र को देख वह चौंक उठती है। और वह जैसे सारे जगत-जीवन पर दृष्टि डालते हुए कह उठती है –

आशाओं का अन्त नहीं है सखि यहाँ
सागर से भी बड़ी, भूधरों के शिखर-
से भी ऊँची, रत्नि से अतितर तीक्ष्ण हैं।

x x x

यह नगर करना चाह रहा है विजय जग
किन्तु जानता कौन भावना का उदय
कब आकर कर डाले मानव को पतित

मेनका का नारीत्व तपस्वी के लक्ष्य को समझकर जागृत हो जाता है और आगे आने वाली कथा का संकेत भी अन्तिम पंक्ति से मिल जाता है। दूसरी ओर उर्वशी की कटुता जाग उठती है। वह मनुज से घृणा करती है क्योंकि वह हमें साधन बनाकर सुख लेता है। क्यों नर ही सब पर शासन कर अपनी गुरुता बनाए रखता है ? क्यों इन्द्र, विष्णु का नाम लिया जाता है ? लक्ष्मी और सावित्री में क्या बल नहीं था ? उर्वशी के हृदय का द्वन्द्व और भी मुखरित होता है जब वह कहती है कि इन्द्र के समान यह विश्वामित्र भी बलवान बनकर हमें नचावेगा। ज्वलन्त प्रश्न वह उठाती है –

जब नारी, नर दोनों ही से सृष्टि है,
एक बड़ा, छोटा हो क्योंकर दूसरा।

भारतीय समाज में नारी की स्थिति पर व्यंग्य और समाज में समान अधिकार पाने का आधुनिक प्रश्न। पुरुष के लिए आधुनिक नारी का स्वर भी ऐसा ही तीव्र है। पुरुष द्वारा शासित रहने की कल्पना उसके लिए कटु सत्य है। "विद्रोहिणी अम्बा" में भी भट्ट जी ने पुरुष की अधिकार लिप्सा के विरोध में नारी की विद्रोह-भावना प्रतिकार का वर्णन किया है। पुरुषत्व-दंभ के प्रतीक भीष्म, शान्तनु और शल्व नारी को उपभोग्या समझते है और अम्बा, सत्यवती आदि नारी की स्वतन्त्र सत्ता दिखाना चाहती है। ऐसी ही है उर्वशी "मेनका" उसकी हृदयाग्नि को शांत करती हुई कहती है कि हममें "भुजा-बल" और "बुद्धि" भले ही न हो, "हृदय बल" तो है और इसके अतिरिक्त–

सौंदर्य और रूप हमारे अस्त्र हैं
जिसके वश त्रैलोक्य नाचता है सखी,
यदि चाहूँ तो अभी तपस्वी को उठा
नाच नचाऊँ जड़पुतली कर काम की।

उर्वशी जो कि हीन-भावना, से पराजय-भावना से पीड़ित है, इस गर्वोक्ति को अविश्वसनीय मानती है किन्तु मेनका नर की दुर्बलताओं को, उसके अहं की कच्ची नींव को जानती है, वह विश्वामित्र को वश कर दिखला देना चाहती है कि नारी कौन है। तभी वसन्त का आगमन होने से प्रकृति वैभव सम्पन्न हो उठती है। मेनका भावाविष्ठ सी गाने लगती है– "मैं प्रणय की हूँ पहेली, राम का आरोह आली ! तीव्र मादकता से सिहरक़र विश्वामित्र की समाधि भंग होती है। वह विस्मय, क्रोध, वितर्क और फिर आह्लाद एवं प्रेम में डूबे से मेनका को देखकर चौंक जाते हैं। वे अचकचा कर जैसे प्रश्न पर प्रश्न करते चले जाते हैं–

अरे, अरे, तुम कौन, मंजु, मृदु कल्पना
विधि की, हरि की, सुरपति की, प्रकृति की

इठलाकर, गाकर, नाचकर मेनका परिचय देती है, व्यंग्य करती है कि तुम "मिट्टी के ढेर से कौन हो ?" विश्वामित्र का दर्प जाग उठता है किन्तु सारा क्रोध मेनका के सौंदर्य से उत्पन्न उद्दाम-काम-वेग में बह जाता है। इस स्थल पर उनका अन्तर्द्वन्द्व भी झलकता है। वह अपने को ब्रह्मज्ञानी सोचकर समाधिस्थ होना चाहते हैं, किन्तु यह अनोखा भावजगत, प्रेम, सृष्टि विलास उनके संयम को तोड़ डालता है और वे अस्थिर से, व्याकुल हो जाते हैं। पराजित और संघर्षरत मन अपने को समझाता है कि विष्णु-रमा, हर-पार्वती सभी तो भोग-निरत है, तृप्त हैं, फिर यह तापस संसार प्रत्यक्ष सुखों को क्यों भूल रहा है। तप का अस्तित्व भी उन्हें भी अस्थायी लगने लगता है। तृषार्त हो मेनका को आलिंगित करना चाहते हैं किन्तु मेनका उनकी अवहेलना कर गाती हुई चली जाती है। कामातुर, विरहाग्नि से दग्ध विश्वामित्र उन्मत्त हो सब तरफ मेनका को ही देखते हैं लेकिन उसे न पाकर, चारों ओर तिमिर ही तिमिर देखकर वे आत्महत्या करने को प्रस्तुत होते हैं कि तभी मेनका हाथ पकड़ लेती है। पुरुष पर विजय प्राप्त कर उसका नारी हृदय पिपासाकुल होकर आत्मसमर्पण कर देता है। बारह वर्ष बाद मेनका की गोद की एक बालिका है। मेनका प्रसन्न है किन्तु विश्वामित्र उद्विग्न हैं, पश्चाताप से पीड़ित हैं —

दैव हा गरल अमृत के धोखे में मैं पी गया।

पुरुष प्रतीक विश्वामित्र को तपोभ्रष्ट होने का, परास्त होने का घोर पश्चाताप है। उर्वशी भी आकर मेनका से कहती है कि तू अमृत के धोखे से विष पी रही है। वह उसे अप्सरा का स्वरूप और लक्ष्य याद दिलाना चाहती है। इस प्रकार उर्वशी एक मनोवृत्ति के रूप में प्रस्तुत की गयी है। किन्तु मेनका प्राप्त सुख से तृप्त है फिर भी उर्वशी के वाक्य उसके मन में गूँजते है और वह सकुचाते, व्यथित ऋषि के हाथों में कन्या को सौंपती हुई कठोरता से कहती है—

लो यह अपना पाप-पुण्य जो भी कहो
मैं जाती हूँ तुम्हें तुम्हारा सौंपकर।

स्वप्न भावों की सघनता, नाटक की समस्या और नाटकीयता की दृष्टि से अत्यन्त सफल है। एक साथ पुरुष का अहं जागृत होता है और नारी की आत्म चेतना। मेनका नारी पुरुष विश्वामित्र पर आरोप लगाती है-

ओ मानव, तेरी आशा का अन्त क्या
तू विलास पर निज पौरुष के महल का
बना-बनाकर नारी को छलता रहा।

वह कितने ही अभियोग लगाती है। विश्वामित्र भी पुरुष प्रतीक के रूप में

नारी पर आरोप लगाते हैं। और कहते हैं कि नर के ऊपर उठने में भला नारी का क्या अपमान है ? नारी के मार्ग में कौन खड़ा है ? विश्व तो बल, शक्ति के द्वारा वश में होता है किन्तु मेनका चुभते हुए वाक्य कहकर "क्यों न सभी को जीने का अधिकार हो, अपने रूप-विकास पूर्णता का परम" विश्वामित्र के हृदय में आग लगाती उड़ जाती है। उर्वशी का कहा यह वाक्य —

क्या न अभी तक देख सके संघर्ष का,
साहस का ओ शक्ति-साधना का कुफल ?
देवों का असुरों से क्यों संग्राम यह
होता रहता सदा।

उनके मस्तिष्क में गूँजता रहता है। उन्हें भी लगता है कि सचमुच सुखों की आशा में मनुष्य ने घोरतर दुःख ही बढ़ा लिए हैं। नर-नारी दोनों को ही समान भाग से सुख भोगना चाहिए। मानव ने क्यों "नारी को निजसुख का साधन मानकर पथ का पुष्प बना दिया है ?" तभी बालिका का रुदन सुनकर उसे शिला पर से उठाकर वह प्यार करने लगते हैं। लेकिन ग्लानि और पश्चाताप उनका पीछा नहीं छोड़ता। बालिका को उसी के भाग्य पर छोड़कर वह चले जाते हैं। इस प्रकार स्त्री-पुरुष के पश्चाताप के साथ इस नाटक का भी अंत होता है। नर-नारी के संघर्ष की समस्या का हल, उस प्रश्न का उत्तर अधूरा ही रह जाता है।

काव्यत्व, गीति-तत्व और नाट्य-तत्व का समन्वित रूप इसमें द्रष्टव्य है विशेषकर काव्य-'तत्व और गीति-तत्व। मेनका और विश्वामित्र के मनोवेगों को काव्यत्व के द्वारा मूर्त करने में भट्ट जी सफल हुये हैं। कामान्ध और विरह-दग्ध विश्वामित्र की मनःस्थिति इन पंक्तियों में कितनी बँध गयी है —

इन गुलाब की पँखुड़ियों पर हँस रहा
प्रिये तुम्हारा स्मय, विस्मय को चूमकर।
चम्पा की मकरन्द सुधा में उड़ रही
मुग्ध हृदय की मृदुता, कोमलता सरल
अल्हड़पन, मस्ती, मादकता, बेसुधी
कण-कण में फूटा-सा यौवन झूमता।

शतदल, उसकी शत ही शत आँखें हुईं तुम्हें खोजने हेतु। मेनका जब अपना परिचय देती है कि—

हूँ फुहार में मेघ, वृष्टि में दामिनी
चमक चपल यौवन में हूँ मैं उग्रमद।
रति अनंग में, सुन्दरता में रूप हूँ।

रागों में ध्रुव, सुखद भैरवी रागिनी
लय में हूँ आरोह, प्राण में आस हूँ।

तब यहाँ भी काव्य, गीति, चित्रोपमता का सौन्दर्य द्रष्टव्य है। मेनका रोमांटिक है अतः वह कई गीत गाती है। गीत बड़े ही सरस, मधुर, संगीतमय और मेनका की मनःस्थिति के अनुकूल हैं यथा–

ताल भूली रागिनी हूँ साज मेरा शिथिल-सा, री।

कोई भी कोरस न होते हुए भी संगीत और नृत्य का मोहक वातावरण इसमें है जो कथानक के अनुरूप है। नाट्य-शिल्प के प्रति भी भट्ट जी सतर्क लगते हैं। प्रारम्भ अत्यन्त ओजपूर्ण है। मेनका से विश्वामित्र का साक्षात्कार होने पर कुछ दूर तक बड़ा ही स्वाभाविक और नाटकीय वर्णन है। उदाहरणार्थ मेनका को देखकर विश्वामित्र का चकित रह जाना उनकी सब बातें अनसुनी कर मेनका का इठलाना, गीत गाना, और फिर विश्वामित्र के पूछने पर अनजान सा बन एकदम से कह पड़ना–

अरे, अरे, तुम मुझसे ही कुछ कह रहे,
जरा विलासी, मैं न जानती समझती
एक ढेर से मिट्टी के तुम कौन हो ?

सुनते ही ऋषि का क्रुद्ध होना किन्तु उपेक्षा-भाव से मेनका का कथन–

होगे विश्वामित्र, मुझे क्या, सो रहो . . .

विश्वामित्र के अहं का जागृत होना और उनमें प्रेमोदय देखकर तीक्ष्ण कटाक्ष कर मेनका का यह कहना–

मैं क्यों तुमको देखूँगी सोचो भला
क्या मुझको है काम नहीं कुछ भी कहीं ?
मैं तो तितली हूँ उड़ती प्रति पुष्प पर
और छमकती, छनन छनन छन नित्य ही

कहकर नृत्य करने लगना – नाटकीय सौंदर्य से पूर्ण है। आगे चलकर कुछ शिथिलता आ गयी है। विश्वामित्र वासनातुर अधिक लगते हैं। उनका रसिक मन और ऋषि-मन का द्वन्द्व भट्ट जी ने कम दिखाया है। जितनी अधिक कामातुरता उनमें दिखायी है उतना ही अगर नैतिक मन में संघर्ष दिखा देते तो यह उच्च कोटि का गीतिनाट्य कहा जा सकता था। यद्यपि भट्ट जी ने तीनों प्रमुख पात्रों के अंतरंग की गहराई में बैठकर पूरे नाट्य की रचना की है फिर भी विश्वामित्र की उस स्थल पर मानसिक स्थिति के द्वन्द्वात्मक स्वरूप को बड़ी कुशलता से

उभारा जा सकता था। समाधि भंग होने पर विश्वामित्र जैसे तपोनिष्ठ का अचानक हृदय हार बैठना अस्वाभाविक लगता है। नाटक का अन्त भी कुछ शिथिल हो गया है। इसका कारण प्रभावान्विति का अभाव है। प्रभाव की एकता "मत्स्यगंधा" में पूर्णता पर है।

तीसरा गीतिनाट्य "राधा" भी प्रतीकात्मक है। राधा कृष्ण से निष्काम प्रेम करती है, उन्हीं के प्रति समर्पण-भावना से विलीन हो जाना चाहती है। वह न तो मत्स्यगंधा के समान यौवन के चांचल्य से उत्पन्न काम के आवेग से तृषित है और न मेनका के समान अशांत और अस्थिर। वासना और सौंदर्य के मोह जाल से मुक्त राधा के विवेक, कर्तव्य और निष्काम प्रेम-भावना के आगे कृष्ण को विनत होना ही पड़ता है। डॉ. नगेन्द्र को "राधा" आवेग की प्रतिमूर्ति" (आधुनिक हिन्दी नाटक, पृ.111) और डॉ. बच्चन सिंह को "उपचार-निरपेक्ष एवं प्रतिदान-शून्य प्रेम की प्रतीक" लगती है। (हिन्दी नाटक पृ. 179) राधा परकीया है, स्वकीया नहीं और कृष्ण भी भागवत के लीलामय, प्रणय-गीति में चतुर गोपीकृष्ण नहीं हैं वरन् गीता के योगेश्वर हैं जो कर्म और ज्ञान पर व्याख्यान देते हैं। इस प्रकार राधा यदि आवेग का, तो कृष्ण विवेक का प्रतीक हैं। अंत में विवेक को प्रेम के आवेग के सामने झुकना पड़ता है। भट्ट जी के कविरूप ने राधा का गीतिमय व्यक्तित्व बनाकर सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है। प्रारम्भ में ही राधा यमुना किनारे पर अर्धचेतनावस्था में मूक, स्वप्न में डूबी सी "तिमिर में उल्लास खोजने" के प्रयत्न में गीत गाती हुई दिखायी देती है। सारी प्रकृति में, बादलों के गर्जन में उसी का स्वर गूँजता है। सखी विशाखा को भी सारा जग कृष्णमय लगता है। राधा विवाहिता है किन्तु वह "लाज, मर्यादा-बन्धन तोड़" मुक्त जीवन जीना चाहती है। वह न किसी की नारी है न उसका कोई पति। दूसरे दृश्य का आरम्भ उसी यमुना के तट पर बांसुरी बजाते कृष्ण और उस मधुर तान में सुध-बुध भूली राधा की इन पंक्तियों से होता है –

मग्न जीवन-निविड़ तम में प्रकाशित मीठी लहर से

कौन तुम अनुरागसागर, कौन तुम मन्मथ हृदय के ?

कृष्ण उत्तर में अपने अवतार लेने का उद्धेश्य बताते हैं और लम्बे व्याख्यान से देने लगते हैं जैसे–

है नहीं सौंदर्य का संगीत का उद्धेश्य राधे

वासनावादी बनाना किसी को उतप्त करके।

भावुक प्रेममयी राधा को उनके सैद्धान्तिक वाक्य समझ में नहीं आते। वह केवल हृदय की गुनगुनाहट को, जलन को जानती है, उस मन को जानती है

जो मचलता है, सहस्त्रों मनोरथों, स्वप्नों से भरा रहता है। वह तो निशि-दिन, प्रत्येक दल प्रत्येक ऋतु, वर्ष और युग-युगान्तर तक बस कृष्ण को, उनकी वंशी को चाहती है। कृष्ण के महाव्रत को सुनकर उसे लगता है कि क्या यह साधारण मनुज नहीं है ? कृष्ण के वंशी बजाने से अन्य सखियाँ भी आकर नाचने-गाने लगती हैं। तृतीय दृश्य में पुनः राधा उद्विग्न-सी चिर-प्रतीक्षा में बैठी, गीत गाती दीखती है। कृष्ण देश की राजनीति, समाजोन्नति, धर्म और नीति पर बहुत कुछ बोलते ही जाते हैं। आश्चर्य से विशाखा पूछती है —

अरे, इतनी बहुत बातें कहाँ से जानी कन्हैया ?

राधा विकल होकर मूर्च्छित हो जाती है। संज्ञा आने पर उसे लगता है कि कन्हैया को उसने अब जाना है और चौथे दृश्य में कृष्ण के चले जाने पर शोक और चिंता में डूबी राधा निर्जीव सी, उन्मत्त हो घूमती दीखती है। आवेग के आधिक्य में उसे लगता है —

वे यहाँ हैं, वे वहाँ हैं, ह्रदय में, विश्वास-बल में,
कुसुम-कलियों में, लता में, वृक्ष में, सरिता-लहर में,
गगन में, पाताल में, भूधर-धरा-जीवन-मरण में।

अंत में विरह में मूर्च्छित राधा को कृष्ण दर्शन देते हैं। राधा पगली सी होकर उनसे लिपट जाती है और आनन्दातिरेक में नाचने लगती है। "कृष्ण, माधव" गाते-गाते वह संज्ञाहीन हो जाती है। कृष्ण कहते हैं —

राधिके, मेरे ह्रदय की श्वास-भाषा-कल्पना तुम
कृष्ण राधामय हुआ है, आज राधाकृष्णमय सब।

और धीरे-धीरे कृष्ण-राधा का रूप अंधकार में एक हो जाता है। वस्तुतः "राधा" में भट्ट जी का गीति-कवि-रूप खुलकर सामने आया है, रंगीन कल्पनायें, लहराती, छलकती शब्दावली और भावमयता ने राधा के प्रेममय कृष्णमय, व्यक्तित्व को प्रभावशाली बना दिया है। राधा के प्रेम का क्रमिक विकास, उसकी सघनता भी सुन्दर ढंग से दिखायी गयी है। अंतिम दृश्य में नारद को बीच में डालकर राधा की प्रेम-भावना की प्रगाढ़ता को और उसके आगे नारद की ज्ञान-गरिमा की पराजय को दिखाया गया है। इस गीतिनाट्य की सबसे बड़ी कमजोरी है नाटकीयता का अभाव। थोड़ी सी कुशलता से उसका भी निर्वाह किया जा सकता था। कृष्ण के संवाद, लम्बे प्रवचन से लगते हैं। इतने चिंतन, विचारधारा और दार्शनिक सिद्धान्तों को प्रस्तुत करने में नाटक के सौंदर्य में बाधा पड़ी है। अंतः संघर्ष के स्थान पर सिद्धान्त प्रधान हो गए हैं। वैसे गीति-काव्य का पूर्ण सौन्दर्य इसमें विद्यमान है। प्राकृतिक सेटिंग, नृत्य, गीत और वंशी-वादन से

उपयुक्त वातावरण की सृष्टि की गयी है। गीत सभी मधुर, आवेगपूर्ण और समयानुकूल है। विशेषकर "हो गया यह हास मेरा सब कहीं उपहास क्यों ?" और "कौन युग से पथ निरखती" ताल-लय-संगीत में घिरे हुए हैं। अंतिम दृश्य में तो काव्यमय संवाद भी बड़े सहज, स्वाभाविक, नाटकीय बन पड़े हैं। अपनी मौलिकता और गीतिमयता के कारण भट्ट जी के ये गीतिनाट्य स्मरणीय हैं।

एकांकी

एकांकी की परम्परा यद्यपि पहले से ही चली आ रही थी पर प्राचीन संस्कृत शैली से मुक्ति का प्रयास बड़ी तेजी से शुरू हुआ। एक ओर राष्ट्रीय सांस्कृतिक, नैतिक, पौराणिक, ऐतिहासिक एकांकी रचे गए दूसरी ओर सामाजिक व्यंग्य के एकांकी और तीसरी ओर प्रयोगात्मक नवीन सांकेतिकता और स्फूर्ति से युक्त एकांकी भी। द्विवेदी युग के बाद एक प्रकार की अतिरंजना, भावुकता, अस्वाभाविकता से मुक्त होने की उत्कंठा दीखने लगी थी। आधुनिक तकनीक, चरित्रों में मनोवैज्ञानिक द्वन्द्व, रंग-सूचनाओं की प्रवृत्ति और इब्सन और शा के प्रभावस्वरूप यथार्थवादी क्रान्ति का आगमन जब हुआ तो पद्यों के अवांछित प्रयोग, स्वगत, दृश्य विधान सब में बदलाव आया। एकांकी को मौलिक और प्रयोगात्मक रूप देने का कार्य जहाँ भुवनेश्वर, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', राम कुमार वर्मा, लक्ष्मी नारायण मिश्र ने किया, वहीं उसे और अधिक विकसित कल्पना और व्यापक दृष्टि के साथ उदयशंकर भट्ट ने लिया। भट्ट जी ने एकांकी कला को नये प्रयोग दिये। उन्होंने पाश्चात्य टेकनीक को अपनाया तो पर उसे भारतीयता के अनुरूप ढाला भी। उनके एकांकियों की पृष्ठभूमि पश्चिमी है पर उसमें उनके विचार, उनकी जीवन-दृष्टि, उनके तर्क और बुद्धिवाद मौलिक हैं। एकांकी के स्वरूप, उसकी उपयोगिता और महत्व पर प्रचलित विभिन्न विचारों को भट्ट जी ने स्थिरता दी। यह उल्लेखनीय है कि जब राष्ट्र विविध संघर्षों और सघन आपत्तियों से गुजर रहा था तब भट्ट जैसे जागरूक एकांकीकार समसमायिक समस्याओं – प्रश्नों से जूझ रहे थे। जिस समय लक्ष्मी नारायण मिश्र, भुवनेश्वर ने पाश्चात्य बुद्धिवाद को प्रधानता दी, उसी समय विष्णु प्रभाकर, भगवती चरण वर्मा, चतुरसेन शास्त्री और उदयशंकर भट्ट के एकांकी मौलिकता, भारतीयता और सर्जनात्मकता को सम्पूर्ण क्षमता के साथ व्यक्त कर रहे थे। विषयों की विविधता और शैली शिल्प के नये प्रयोग भट्ट जी ने दिये। 1930-38 के बीच उपर्युक्त सभी लेखकों ने इतने वैविध्यपूर्ण समर्थ एकांकी लिखे कि मई 1938 में 'हंस' पत्रिका का हिन्दी एकांकी नाटक विशेषांक निकला जो एकांकी के इतिहास में एक महत्वपूर्ण घटना के रूप में माना गया। इस विशेषांक के आठ एकांकियों में से एक एकांकी उदयशंकर भट्ट का था – "दस हजार"।

जिसमें कंजूस बनिये के मन में होने वाले पुत्र प्रेम-धन प्रेम के द्वन्द्व को मनोरंजक ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

एकांकी के बारे में अपने प्रथम एकांकी संग्रह "अभिनव एकांकी नाटक" (1940) की भूमिका में भट्ट जी कहते हैं – "एकांकी नाटक लिखना मैंने पिछले दो साल से आरम्भ किया।" यहाँ यह बताना आवश्यक है कि कांफी समय तक हिन्दी में "एकांकी नाटक" प्रयोग चलता रहा। स्वयं लेखक भी यही प्रयोग कर रहे थे लेकिन धीरे-धीरे विधागत वैशिष्ट्य के साथ केवल एकांकी का प्रयोग होने लगा।

उदयशंकर भट्ट के एकांकी कथानक और शिल्पविधान की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण रहे हैं। उनके एकांकी संग्रह निम्नलिखित हैं :

1. अभिनव एकांकी नाटक (1940)
2. स्त्री का हृदय (1947)
3. आदिम युग (1947)
4. तीन नाटक (बाद में इसी में एक रचना और जोड़ कर चार एकांकी नाम कर दिया गया)
5. अंधकार और प्रकाश (1952)
6. धूमशिखा (1948)
7. समस्या का अन्त (1948)
8. पर्दे के पीछे (1950)
9. आज का आदमी (1959)

भट्ट जी के इन एकांकियों में दोनों प्रकार के पक्ष उभरकर आये (1) ऐतिहासिक-पौराणिक एकांकी जिनमें साहित्य और रंगमंच का संतुलित सौंदर्य है। (2) यथार्थ और सामाजिक दृष्टि के एकांकी जिनमें अभिनय पक्ष और बदलते समाज और मूल्यों, बदलती मानसिक स्थतियों का सशक्त चित्रण है। दोनों दिशाओं में ही उनकी रचनाओं से हिन्दी एकांकी को विषय-विस्तार, कथ्य की ताकत और शिल्प एवं रंगमंच का कलात्मक स्वरूप मिला। भट्ट जी का संवदेनशील मन जीवन की संघर्षमयी कटु परिस्थितियों और विसंगतियों को सामने लाता है और साथ ही वह उन विसंगतियों के प्रति करुणा और वेदना से भर उठते हैं जिससे उनमें अश्क जैसा तीखापन और स्पष्ट व्यंग्य नहीं मिलता बल्कि वह बौद्धिकता और भावुकता के समन्वय से कलात्मक रूप प्राप्त कर लेता है। उदाहरणार्थ "नेता", "वर निर्वाचन" "उन्नीस सौ पैंतीस", "सेठ लाभचन्द्र" में जीवन और जगत की अनेक समस्याओं का अत्यन्त मार्मिक चित्र है और उन सभी में लेखक की दृष्टि की संवदेनात्मकता और करुणा भाव भरा पड़ा है।

"नेता" में पुरूषोत्तम का वाग्दम्भ क्रोध नहीं पैदा करता, उसकी असमर्थता का बोध कराता है। इस दम्भ भाव को आधुनिक अपरिपक्व नारी में देखा गया है। अपने को पुरुष से स्वतन्त्र और समाज से उन्मुक्त मानने वाली स्त्री का मनोवैज्ञानिक चित्रण उस समय की साहित्यिक-सामाजिक प्रवृत्तियों के बदलाव का सूचक है। आधुनिक शिक्षित युवती की स्वतन्त्रता, आत्मनिर्भरता ने किस प्रकार उसे पुरूष से उदासीन बनाया है, कुंठित और भ्रमित किया है – इस मनःस्थिति का चित्रण "पर्दे के पीछे" में किया गया है। सामयिक विषयों से सम्बद्ध सभी एकांकी पूर्वप्रचलित आदर्शवादी धारणाओं और आदर्शचित्रण की कृत्रिमता को तोड़ते हैं।

"स्त्री का हृदय" में भी सात एकांकी हैं– "स्त्री का हृदय" "नकली और असली", "दस हजार", "बड़े आदमी की मृत्यु", "विष की पुड़िया", "जवानी", "मुंशी अनोखे लाल"। नारी हृदय की कोमलता और करुणा, समाज के विभिन्न वर्गों के हास्य-व्यंग्यपूर्ण चुभते चित्र इनकी विशेषता हैं। उदाहरणार्थ "बड़े आदमी की मृत्यु" बिना किसी नाटकीय कथानक के भी एक धनी की मृत्यु से उत्पन्न संवेदनहीन स्थिति का करुण और व्यंग्यपूर्ण चित्रण करता है जैसा कि आगे चलकर हमें कई कहानियों में मिलता है। रहस्योद्घाटन से उत्पन्न चमत्कार यहाँ भी है पर रेडियो के प्रभाव से आने वाले कुछ नये प्रयोग भी हैं जैसे स्मृति दृश्य और आगन्तुक का प्रयोग। "जवानी" को भट्ट जी ने स्वयं नाट्यरूपक कहा है और उसमें आगन्तुक का प्रयोग एक विचारक के धरातल पर किया है। "आदिम युग" की "प्रथम विवाह", "आदिम युग" तथा "वैवस्वत मनु और मानव" भिन्न प्रकार के स्वभाव की रचनायें हैं। तीनों पौराणिक प्रसंगों पर आधारित हैं। उनका मुख्य लक्ष्य प्राचीन सभ्यता और संस्कृति को प्रस्तुत करना है। स्वयं उदयशंकर भट्ट इन्हें "सांस्कृतिक चित्रण" क़हते हैं। संलापों की प्रधानता के कारण ये वर्णनात्मक अधिक हैं नाटकीय कम। लेकिन "समस्या का अन्त" "धूमशिखा", "पर्दे के पीछे", "आज का आदमी" में यह बात नहीं है। युगीन चेतना, सुधारवादी दृष्टि, व्यंग्य और सोद्देश्यता इनकी विशेषता है। इन सभी में स्वतन्त्रता के बाद का भारत प्रत्यक्ष होता है और लेखक स्वतन्त्र भारत को सही दिशा देने के लिए भी आकुल दीखता है। वैसे भी अपने निबन्धों और नाटकों की भूमिकाओं में लेखक ने रचना की – विशेषकर नाटक की सोद्देश्ता पर बहुत बल दिया है। "समस्या का अन्त" में भट्ट जी ने लिखा है – "प्रत्येक नाटक का कोई न कोई उद्देश्य अवश्य होना चाहिए" जैसे साहित्य में आज कला जीवन के लिए जीवन देने के लिए है, उसी तरह नाटक का भी उद्देश्य के लिए होना आवश्यक है।" "गिरती दीवारें" में वे हासोन्मुखी अंधविश्वासी संस्कृति का चित्रण करते हैं तो "वापसी"

में धन के लिए स्वार्थपरता की बढ़ती प्रवृत्ति और सम्बन्धहीनता को दिखाते हैं। "मन्दिर के द्वार पर" में अछूत की समस्या है, तो "पिशाचों का नाच" में साम्प्रदायिक दंगों और उनसे उत्पन्न नारी उद्धार की समस्या सबके सामने रखी गयी है। "दो अतिथि" में वह ढोंग और उपदेश के खोखलेपन पर हँसते हैं तो "विस्फोट" में हिन्दी सम्पादकों आलोचकों पर। और "बीमार का इलाज" में अनेक चिकित्सा पद्धतियों के दुराग्रही व्यक्तियों पर। सामाजिक व्यंग्य "पर्दे के पीछे" में उस निरन्तर चलते व्यापार का चित्रण है जो पुराने आदर्श संस्कार, सामाजिक प्रतिष्ठा की प्रवंचना, खोखलेपन को खोलता है। नेताओं-अफ़सरों की सांठगांठ, ब्लैकमार्किटिंग आदि जहाँ स्वतन्त्रता के बाद के भारत का खाका खींचते हैं वहीं एकांकी को मोहभंग की मार्मिक अभिव्यक्ति की व्यंजना भी देते हैं। भट्ट जी युवा वर्ग के आपसी सम्बन्धों को "मायोपिया" और "बार्गेन" में दिखाते हैं और भौतिकतावादी दृष्टि के पनपने से सांस्कृतिक मूल्यों और मानवीय पारिवारिक सम्बन्धों में विघटन को "बाबू जी" और "नयी बात" में तीखे व्यंग्य के साथ व्यक्त करते हैं। "बाबू जी" उस समय की रचनाओं में अलग से रेखांकित की जाने वाली रचना है। मध्यवर्ग के सामूहिक पारिवारिक चित्रण की जटिलताओं का सूक्ष्म और व्यंग्यात्मक चित्रण इसमें हुआ है। मूल व्यंग्य व्यक्ति की स्वार्थपरता पर है। वैयक्तिकता की प्रधानता और उपयोगितावादी दृष्टि के कारण वृद्ध पिता की उपेक्षा जिस प्रकार दिखायी गयी है। वह "वापसी" कहानी और "चारपाई" नाटक की याद दिलाती है। बाबू जी की चारपाई कमरे से निकाल कर नीम के नीचे तंबू गाड़कर डलवाना वैसा ही है। बेटा केदार यहाँ तक कहता है "मैं तो मानता हूँ मनुष्य की एक उपयोगिता है। वह जब समाप्त हो जाए तो जीने का हक उसका कम हो जाता है।" घर के सब लोग बाबू जी की मृत्यु की प्रतीक्षा करते हैं। केवल नौकर रामसिंह है जिसकी सहानुभूति उनके प्रति है। कला का नया बोध, एक सांकेतिक प्रयोग की तरह इसमें मिलता है। बाबू जी एकांकी के पात्र नहीं हैं फिर भी पूरा एकांकी उनकी उपस्थिति और व्यक्तित्व का बोध कराता है। प्रतिदिन की दिनचर्या और वैसी ही भाषा, मुहावरों में रचा बसा यह एकांकी आज भी महत्वपूर्ण है। कुछ एकांकियों में विवाह संस्था और दाम्पत्य जीवन के प्रति नारी का विरोध भाव भी चित्रित है। "यह स्वतन्त्रता का युग" में जीना अपने पति से कहती है :

"जो भी है वह साफ है। वह तुम्हारे दर्शन फिलासफी से बंधा हुआ नहीं है। यदि तुम मेरे पति हो, तो मैं अपना सब कुछ नहीं दे सकती मेरी इच्छायें हैं, मेरा शौक है। मैं मजबूर नहीं हूँ कि एक ही दुकान से सौदा खरीदती रहूँ। तुमने मेरे मन को ठेस नहीं पहुँचाई, मेरे शरीर को भी अपरूप कर दिया है। मेरी इच्छाओं को भी कुचल डाला है।"

जाहिर है कि यह उस युग में नारी स्वतन्त्रता से बनती हुई तात्कालिक मानसिकता है। लेकिन इसकी तुलना में "स्त्री का हृदय" सम्बन्धहीनता, आडम्बर, मूल्यहीनता और संवदेनहीन स्थितियों के लिए उल्लेखनीय है। यह एकांकी सीधे, स्वाभाविक ढंग से समस्या से ही शुरू होता है। यद्यपि नारी की विद्रोह भावना यहाँ भी प्रतिक्रियात्मक अधिक है। कभी-कभी ऐसा भी लगता है जैसे लेखक स्वयं बहुत आश्वस्त नहीं है। पात्र ज्यादा बोलकर अपने को जस्टिफाई करते हुए लगते हैं। नये विचारों को — विशेषकर मनोवैज्ञानिक कारणों को — स्पष्ट करते हुए लगते हैं। यह स्पष्टीकरण और शब्दों में विश्लेषण की प्रवृत्ति कृत्रिम भी लगने लगती है। पात्र जब कारण समझाने लगता है तो वह साहित्यिक मनोवैज्ञानिक बहस ज्यादा लगती है नाटकीय कम (पृ. 32,33,34)। लेकिन कुछ अच्छे पक्ष भी हैं उदाहरणार्थ कैदी पिता के प्रति सबका ठंडा, बेरुखा व्यवहार भीष्म साहनी की "चीफ़ की दावत" कहानी की याद दिलाता है। उदयशंकर भट्ट मानवीय करुणा का एहसास पुत्री शोभा की करुणा और संवदेना से कराते हैं। इस संवेदना को एकांकी के अंत में प्रतिष्ठित करना ही वस्तुतः भट्ट जी की, मौलिकता है।

(पृ.51-53) तक का पूरा प्रसंग बेहद गत्यात्मक, द्वन्द्वपूर्ण, तीखा और अभिनयात्मक है, साथ ही मानवीय आवेग से भरा है, क्रियात्मक और संवेदनपूर्ण दोनों है। इसमें एकांकी की चरमसीमा का वस्तुतः विकासमान विलक्षण सौंदर्य है। सारी विरोधी मानसिकता के बीच आकस्मिक ढंग से पत्नी अंजना का आना पति की स्थिति पर रोना, पति का पक्ष लेना न केवल दर्शक को कौतूहल से भर देता है बल्कि भारतीय नारीत्व को भी प्रतिष्ठित करता है और वही एकांकी का लक्ष्य हो जाता है। इस कला में उदयशंकर भट्ट सिद्धहस्त हैं। आधुनिकता और भारतीयता का यह समन्वय उनके श्रेष्ठ एकांकियों की पहचान है।

कथ्य और शिल्प की इस विशेषता के कारण "नये मेहमान" एकांकी को लिया जा सकता है। यह उदयशंकर भट्ट का सामाजिक, यथार्थवादी, जीवन्त और व्यंग्यात्मक एकांकी है। इसमें उन्होंने आधुनिक महानगरों में मध्य वर्गीय परिवार की आवास समस्या का सजीव चित्रण किया है। आवास की समस्या को मेहमानों के आ जाने से उत्पन्न होने वाली असुविधा के रोचक, विनोदपूर्ण अंकन से प्रस्तुत किया गया है। एक साधारण गृहस्थ विश्वनाथ नगर की कृष्ण गली में अपनी पत्नी रेवती और दो बच्चों प्रमोद और किरण के साथ छोटे से मकान में रहकर किसी तरह जीवन निर्वाह करता है। मकान की छत बहुत छोटी है और एकपलंग भर का स्थान उसमें है जिस पर बच्चे ही सो सकते हैं, पति-पत्नी छत और आँगन में सोने के लिए विवश हैं। इसी परिस्थिति में दो अनजाने नए

मेहमानों का आगमन होता है। वे अपना परिचय दिये बिना डेरा डाल देते हैं। विश्वनाथ उनका परिचय पाने का बहुत प्रयत्न करता है। बाद में पता चलता है किसी संपतराय ने बिजनौर से उन्हें भेजा है। उन्हें कविराज रामलाल के पास कृष्ण गली में जाना था। विश्वनाथ उन्हें बताता है कि यहाँ छः कृष्णा गलियाँ हैं। वैद्य रामलाल हमारे मकान के पीछे की गली में रहते हैं, उन्हें अपने लड़के प्रमोद के पास वहाँ भिजवाकर दोनों संतोष की सांस लेते हैं। अचानक रेवती का भाई झाँसी से आ जाता है। रेवती अब गर्मी और सिर दर्द की बेचैनी सब भूलकर उसका स्वागत करती है और उसके लिए खाना बनाने को तैयार हो जाती है। एकांकी इस सत्य की ओर संकेत कर जाता है कि अपने लोग अपने होते हैं और पराये पराये। हास्य और हल्की फुल्की स्थितियों से इस एकांकी की रचना प्रभावित करती है दूसरी ओर जीवन और मानव-स्वभाव के सत्य को वह स्थापित करता है। विश्वनाथ एक सद्गृहस्थ सहृदय, संकोची स्वभाव का पुरुष है तो रेवती मध्य वर्ग की चिड़चिड़ी, असंतुष्ट, अस्वस्थ आर्थिक संकटों के कारण कंजूस किन्तु साथ ही भारतीय नारी की ममता और सहज स्वभाव से युक्त है। आने वाले नए मेहमान आज के युग की स्वार्थवृत्ति का प्रतिनिधित्व करते हैं— अपरिपक्व मानसिकता और सामाजिक औपचारिकताओं से अनभिज्ञता का परिचय देते हैं। अपने चार पैसे बचाने के लिए वे किसी से भी परिचय निकाल कर मेहमान बन जाते हैं बिना किसी की सुविधा-असुविधा का ध्यान रखे। उदयशंकर भट्ट ने ऐसे लोगों का बड़े ही रोचक ढंग से चित्र खींचा है। मध्यवर्गीय परिवारों की आर्थिक स्थिति और जीवन की छोटी-छोटी समस्याओं के बीच सहसा शहरी जीवन में नए अपरिचित मेहमान क्या उलझनें पैदा कर देते है—इस चित्रण के द्वारा लेखक ने "नए मेहमानों" की अनुदारता और सहानुभूतिहीनता का मार्मिक चित्रण किया है। समाज के इस यथार्थ को आवरणमुक्त करना लेखक का उद्देश्य है। इस तरह यह एकांकी हास्यमय होते हुए भी वर्तमान संदर्भ में समस्याप्रधान बन जाता है। महानगरीय जीवन की त्रासदी भी उभरती है। नए मेहमानों को बहुत बातूनी, हंसोड़, बेतकल्लुफ दिखाकर भी चरित्रों की पकड़ और चित्रण की कुशलता का परिचय लेखक ने दिया है।

उदयशंकर भट्ट का "आज का आदमी" का प्र.सं. 1959 में और द्वि.सं. 1965 में प्रकाशित हुआ जिसमें उनके पाँच एकांकी — (1) आज का आदमी, (2) मन का रहस्य, (3) सत्य का मन्दिर, (4) तीमारदारी, (5) कुन्दन और तुलसी हैं। इन सब में वर्तमान युग और आज के मानव समाज की विकृतियों पर कुंठित, संशयग्रस्त, विवेकहीन मनुष्य पर प्रहार और व्यंग्य है। युग की दोमुँही प्रवृत्ति,

आज के आदमी का मानसिक असंतुलन इनमें साकार हुआ है। इनमें पौराणिक, ऐतिहासिक, प्रतीकात्मक, समस्याप्रधान, हास्य व्यंग्यपूर्ण सभी प्रकार के एकांकी हैं सभी एकांकी उन्हें "अनुसंधाता" के रूप में प्रस्तुत करते हैं। भट्ट जी के ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं कि –

"वैसे भी मैं आज नाटक में सहज मनोरंजन की अपेक्षा व्यंग्य को प्रधानता देना चाहता हूँ।" "सत्य का मन्दिर" में जीवन की अवास्तविक वास्तविकता के प्रति एक व्यंग्य है जिसे उपदेशक, बूढ़ा, सेठ, वकील, डाक्टर सबके एक जगह बैठकर एक निश्चय पर पहुँचने की चाह से व्यंजित किया गया है। यद्यपि इस नाटक में ठहराव है, "तीमारदारी" जैसी गति और क्रिया नहीं है फिर भी पात्रों के द्वारा निकलते व्यंग्य की तीव्रता के कारण यह भट्ट जी की दृष्टि और कला को प्रस्तुत करता है। दर्शक-पाठक से जुड़ाव, दर्शक को झकझोरने की कोशिश इन एकांकियों की रोचकता, सोद्देश्यता, कलात्मकता को सामने लाती है।

वस्तुतः उदयशंकर भट्ट के एकांकी सामाजिक आलोचना, राष्ट्रीय चेतना और सांस्कृतिक चेतना से युक्त हैं। उनका फलक व्यापक है। राजनीति के क्षेत्र को भी उन्होंने "क्रान्तिकारी" एकांकी में लिया है। यह एकांकी "बींसवीं शताब्दी के सामूहिक राष्ट्रीय जागरण की झांकी देने का प्रतीकात्मक प्रयत्न है।" गाँधीवादी आन्दोलनों के मध्य उठने वाले क्रान्तिकारी आन्दोलन का चित्रण करते हुए यह बदलते समय के साथ नवीन प्रवृत्तियों के उदय को उजागर करता है। भट्ट जी के सभी एकांकियों में कथावस्तु, कौतूहल और संघर्ष का विकास होता है और चरमोत्कर्ष की ओर स्वाभाविक गति से बढ़ता है। उनके एकांकियों में संकलनत्रय संकलनद्वय दोनों का विधान मिलता है। आगे चलकर इस विधान को छोड़कर सांकेतिकता बढ़ती गयी। उनके एकांकियों में जब भी विषय, समस्या, उद्देश्य प्रधान रहा तो उससे शिल्प पर भी प्रभाव पड़ा। "धूमशिखा" के आमुख में भट्ट जी ने लिखा है – "अभिनव एकांकी नाटक" में मैंने नाटक के विस्मयात्मक अन्त और संवाद की प्रगल्भता पर जोर दिया है। उसमें नाटक के सौन्दर्यबोध के साथ मैंने वस्तु की अभिनव ग्रन्थना को नाटक का उत्कर्ष मानकर चलने का प्रयास किया है।" यह बन्धन बाद के एकांकियों में नहीं है। बाद के एकांकी में केन्द्र में कथ्य है, कथानक-निर्माण के तत्व चमत्कार, चरम सीमा, विस्मयात्मक अन्त, नाटकीय मोड़ आदि नहीं। लेकिन उनमें फिर भी स्वाभाविक नाटकीयता है। स्थितियों का चयन और उन्हें प्रस्तुत करने की पद्धति ऐसी है कि अन्त तक, आकर्षण जैसे खो जाता है जैसे "आत्मदान", "नयी बात" आदि में कभी वह निष्कर्ष भी देते है जैसे "नया नाटक" में और कभी उनके एकांकी चित्र जैसे भी लगते हैं जैसे "आज का आदमी", "ग्रहदशा"। पर अधिकांशतः उनका प्रयास

कथ्य की नवीनता और तीव्रता है।

उनके पात्रों में भी वैयक्तिक विशेषतायें यद्यपि हैं पर वे उतनी प्रमुख नहीं है जितनी सांस्कृतिक, सामाजिक विशेषतायें, द्वन्द्व और प्रश्न या वे सामाजिक यथार्थ के प्रतीक है और वर्ग प्रतिनिधियों के रूप में आये हैं। उनमें भी वैविध्य है। नाटककार और समीक्षक डॉ. लक्ष्मी नारायण लाल ने कहा कि "एकांकी की मर्यादा, प्रतिष्ठा में उसे जीवन के निकट लाने में भट्ट जी का बड़ा योगदान है। उनके लिए एकांकी "स्वजातीय" है— उसके संस्कार भी अपने हैं और स्वर भी अपने।" (आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच पृ. 95) किन्तु यह भी सही है कि उनके पौराणिक एकांकियों में भी अन्तर्वस्तु और विषय पर, एकांकी के रूपविधान पर उस समय की द्वन्द्वात्मक चेतना, सामाजिक संघर्ष और जीवन मूल्यों की अभिव्यक्ति का आग्रह बहुत गहरा दीखता है साथ ही एकांकी की संरचना में आधुनिक नाट्यशैली के अन्वेषण की बेचैनी और सजगता उपलब्ध होती है। भले ही एकांकी का हिन्दी साहित्य में वह महत्व नहीं है क्योंकि रंगमंच के विकास के साथ-साथ आज पूर्णकालिक नाटकों का युग है। न इस समय एकांकी का कोई विकास ही है पर एकांकी ने हिन्दी नाटक और रंगमंच के अन्तःसम्बन्ध की नींव डाली तथा पृष्ठभूमि तैयार की। वे एकांकी ही एक प्रकार से लघु नाटक सिद्ध हुए। शौकिया रंगमंच को गति देने और सामाजिक जीवन में लोकप्रियता, आदर्श यथार्थ-मनोरंजन-दर्शन की दृष्टि से इनका महत्व है। एकांकी ने जनसमाज अवश्य बनाया दर्शक समूह, समीक्षाजगत्, शिक्षा जगत में जो स्वीकृति एकांकी की थी, वह आज नाटक की नहीं है।

रेडियो नाटक

स्वतन्त्रता के बाद का समय हिन्दी नाटक में रेडियो नाटक के आरम्भ और विकास का समय था। इससे पूर्व रेडियो नाटक का कोई स्वतन्त्र एवं विशिष्ट अस्तित्व नहीं था और न साहित्य के अन्तर्गत उसकी गणना होती थी। आरम्भ में रेडियो पर उर्दू नाटकों का प्रभुत्व था और हिन्दी में जो नाटक लिखे भी जाते थे उनमें विषय की दृष्टि से पुराण, इतिहास, रोमांस की प्रधानता थी और हल्का-फुल्का मनोरंजन तत्व था। इनमें रंग-संकेत, दृश्यान्तर, अन्तराल रंगनाटकों की तरह ही होते थे। 1940 के बाद से उपेन्द्रनाथ 'अश्क', चिरंजीत, गिरिजाकुमार माथुर, शिवदान सिंह चौहान आदि ने रेडियो नाटकों को स्थायित्व और नया शिल्प, कला-सौन्दर्य दिया। डॉ. रामकुमार वर्मा का "आँखों का आकाश" अत्यन्त लोकप्रिय भी हुआ। लेकिन इन प्रयोगों के होते हुए भी एक विधा के रूप में रेडियो नाटक का मौलिक सर्जनात्मक स्वरूप 1947 के समृद्ध नये नाट्य रूप

की तरह महत्व स्थापित हुआ। कथ्य, शिल्प, के नये-नये प्रयोग हुए। रेडियो नाटक के विविध प्रकारों को विविध नाम मिले — रूपक, फैंटेसी, रेडियो रूपान्तर, मोनोलाग, संगीतरूपक, काव्यरूपक, आपेरा, प्रहसन, झलकियाँ, हास्यगीत आदि।

"उदयशंकर भट्ट" का व्यक्तित्व रेडियो नाटक की दिशा में भी वैविध्यपूर्ण और प्रयोगधर्मी रहा है। कोई जीवित मंच न होने के कारण ऐसे बहुत से एकांकी और रंग-नाटक आये जो जागरूक लेखकों द्वारा रेडियो से प्रेरित होकर लिखे गए। उदयशंकर भट्ट के एकांकी भी इस प्रकार के हैं कि इनमें रंग-एकांकी का सौंदर्य भी है और श्रव्य एकांकी का भी। नाटककार लक्ष्मी नारायण लाल ने इस प्रकार के एकांकियों के लिए इस तथ्य की ओर संकेत किया है कि "हिन्दी एकांकी अपने आविर्भाव के साथ ही एक ऐसे समन्वयात्मक सत्य को लिए आया कि रंगनाटक और एकांकी रचना दोनों के सूत्र जैसे उसकी गाँठ में संस्कार से बँधे थे जैसे दोनों एक दूसरे के अनिवार्य तत्व थे।"

1940 के बाद से रेडियो इतना सशक्त माध्यम हो गया कि एकांकीकार ही रेडियो नाटक के लेखक हो गए। स्वयं उदयशंकर भट्ट रेडियो नाट्य लेखन के क्षेत्र मं आ गए। एक ओर एकांकी की लोकप्रियता इतनी बढ़ी कि स्कूल, कालेज, विश्वविद्यालय आदि अन्य संस्थाओं के रंगमंच के लिए एकांकी की माँग बढ़ी, दूसरी ओर उन्हीं लेखकों ने रेडियो से प्रसारित होने के लिए कितने ही एकांकी लिखे। डॉ. नगेन्द्र ने कहा कि "इसके मूल में फार्म का आकर्षण तो है ही, साथ ही मंच का आग्रह भी है। टेकनीक में नवीनता है और फैशनेविल चित्रमयता बढ़ रही है। चूँकि आरंभ में रेडियो नाटक के स्वतन्त्र शिल्प से लेखक अपरिचित थे इसलिए उनके रंग नाटक ही रेडियो से भी प्रसारित होने लगे। इस प्रकार के लेखकों ने भले ही रेडियो के लिए नाटक नहीं लिखा, पर यह सोचकर रंग नाटक की रचना होने लगी और उन्हें साधारण से परिवर्तन के बाद रेडियो से प्रसारित किया जाने लगा। इस रूप में रामकुमार वर्मा, उपेन्द्रनाथ अश्क और उदयशंकर भट्ट अधिक सक्रिय लेखक थे। उदयशंकर भट्ट चूंकि आल इण्डिया रेडियो से सम्बद्ध भी रहे, वह आकशवाणी दिल्ली में नाटक विभाग के परामर्शदाता रहे। अतः उन्हें रेडियो नाटक के शिल्प का अनुभव था जिसे उन्होंने अपनी "साहित्य के स्वर" — पुस्तक के लेखों — "रेडियो नाटक और उसकी उपलब्धि", "नाटक नाट्यकार और रंगमंच", "रेडियो नाटक" में अभिव्यक्त किया है। रेडियो नाटक के स्वतन्त्र अस्तित्व और शिल्पगत मौलिकता की बात उन्होंने "समस्या का अन्त" और कालिदास की भूमिकाओं में भी कही है। भट्ट जी ने रेडियो के लिए स्वतन्त्र रूप से नाटक नहीं लिखे, रंगमंच को केन्द्र में रखकर लिखित एकांकी

को ही सामान्य परिवर्तन के साथ रेडियो के उपयुक्त बनाया। "वाचिक तीव्रता" और स्वर के आरोह-अवरोह पर उन्होंने हमेशा ध्यान दिया। उन्होंने स्वयं कहा है कि मुझे अपने "आदिम युग", "कुमारसम्भव", "आत्मदान", "गिरती दीवारें", "जवानी" आदि नाटकों में आंगिक अभिव्यक्ति को कम करके उन्हें ध्वनि से पूर्ण करना पड़ा। "समस्या का अन्त" की भूमिका में भी कहा है कि उन्होंने अपने नाटकों के साथ संकेत इस प्रकार किये हैं कि वे रंगमंच और रेडियो दोनों पर अभिनीत हो सकें। लेकिन "समस्या का अन्त" नाटक रेडियो तकनीक के आधार पर ही लिखा गया है इसलिए यह ध्वनि प्रधान है, संकेत तथा निर्देश प्रधान नहीं। ध्वनि प्रभावों का अधिक से अधिक प्रयोग, संघर्ष की प्रधानता, नैरेटर का उपयोग आदि चीजें इसे ध्वनि नाटक सिद्ध करती हैं। शेष उनके कई एकांकी ही "गिरती दीवारें", "आदिम युग", "पर्दे के पीछे", "अन्धकार और प्रकाश" आदि रेडियो नाटक के क्षेत्र में भी अपनी सामाजिक चिंताओं, मानवीय प्रश्न, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, द्वन्द्व चेतना और प्रयोगधर्मिता के कारण बहुत प्रसिद्ध हुए।

स्वाधीनता प्राप्ति के बाद हिन्दी रेडियो नाटक और काव्य नाटक को नये रूप, नयी संरचना और कथ्य मिला। रेडियो में विकास की नयी संभावनायें दिखाई दीं। कुछ ऐसी रचनायें सामने आयीं जिनमें काव्यत्व भी था, नाटकीयता भी— अर्थात् दृश्य-श्रव्य-नाट्य-काव्य का अन्तरंग सम्बन्ध था। रेडियो से कुछ ऐसी रचनायें प्रसारित हुईं जिननें केवल विषय और सूचना की प्रधानता थी, काव्य तत्व अधिक था, वर्णनात्मकता थी, रोचकता और नाटकीयता का अभाव था, इन्हें श्रव्य काव्यरूपक कहा गया। रेडियो नाटक विशेषज्ञ रूपक में विचार, सूचना, सोद्देश्यता प्रधान मानता है। आकाशवाणी से सुमित्रानन्दन पंत के श्रव्य काव्य रूपक बहुत प्रसिद्ध हुए। उसी क्रम में उदयशंकर भट्ट के "कालिदास", "एकला चलो रे", "संत तुलसीदास" वस्तुतः रेडियो के लिए ही, लिखे गए काव्य रूपक हैं। "संत तुलसीदास" के आरम्भ में, मध्य में, सूत्रधार कथा परिचय देते हुए कथा-सूत्रों को जोड़ते हुए अपना कार्य करता है। सम्पूर्ण इतिवृत्तात्मक ढंग से लिखित यह काव्यरूपक काव्यात्मक अभिनन्दन से समाप्त होता है। तुलसीदास के चरित्र उनके मानस-विद्रोह को इसमें सुंदर ढंग से अंकित किया गया है। घटनायें और वस्तुविधान गौण है।

उदयशंकर भट्ट का "गुरू द्रोण का अन्तर्निरीक्षण" भी श्रव्य काव्य नाटक है। यह रचना ध्वनिप्रभाव, संगीत, संवाद सौन्दर्य छाया के विलक्षण नाटकीय प्रयोग के कारण बहुत प्रभावशाली बन पड़ी है। काव्यरूपक न होने के कारण यह इतिवृत्तात्मक, सूचनात्मक और उपदेशप्रधान नहीं है बल्कि इसमें पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व का भावात्मक सौंदर्य है। इसमें अपराजित योद्धा द्रोण के अन्तर्मन का

मनोवैज्ञानिक विश्लेषण है। रचना का आरम्भ द्रोण के अन्तर्द्वन्द्व से होता है। कौरव पक्ष की अनीति से परिचित होते हुए भी वह सेनापति पद पर रहते हैं और अपनी आंतरिक चेतना के कारण पांडवों से शत्रुभाव भी नहीं रख पाते। दुर्योधन को यह स्थिति असह्य है। वह कुलगुरू द्रोण के मर्म पर व्यंग्यबाण करता है। द्रोण दुर्योधन को तर्क द्वारा शान्त करते हैं पर छाया रूप आत्मा के आगे मौन हो जाते हैं। उनका विगत जीवन चित्रपट की भाँति उनके सामने साकार होता जा रहा है। प्रतिशोधवश द्रुपद को अर्जुन द्वारा पराजित करवाना, एकलव्य को अंगुष्ठविहीन करना, उसे धनुर्विद्या से वंचित करना, भरी सभा में द्रौपदी के अपमान को तटस्थभाव से देखना आदि ऐसे मार्मिक स्थल हैं जो इस कृति को इतना प्रभावशाली बनाते हैं कि आश्चर्य होता है कि हिन्दी नाटक के इतिहास, आलोचना और रंगमंच पर अभिनयात्मकता की दृष्टि से इसकी ओर विद्वानों का ध्यान क्यों नहीं गया ? अतीत का स्मरण करते-करते छाया रूप आत्मा उनके ब्राह्मणत्व को जागृत करती है। इस संघर्ष और नैराश्य में द्रोण अपनी मृत्यु की कामना करते हए प्रस्थान कर जाते हैं। संभवतः इसे श्रव्य काव्य नाटक समझ कर छोड़ दिया गया। वस्तुतः आवश्यक परिवर्तनों के साथ यह कृति पूर्णतः समकालीन, मानवीय और रंगमंचीय है – वह भी आज जब कि महाभारत के एक-एक पात्र के अन्तर्मन के जटिल स्तरों में प्रवेश करके सर्जनात्मक प्रयोग किये जा रहे हैं। गांधारी, कुंती, कर्ण आदि पात्रों के अन्तर्विरोधों को बखूबी चित्रित और मंचित किया गया है। श्री वसन्त देव और सत्यदेव दूबे इसके प्रमाण है। इसी प्रकार उदयशंकर भट्ट का "अश्वत्थामा" भी ध्यान आकृष्ट करता है। उसमें पराजय की आग में झुलसते हुए, प्रतिहिंसा से व्याकुल क्रूर, विकृत अश्वत्थामा का मनोवैज्ञानिक चित्रण किया गया हैं। अंक, दृश्य रहित इस काव्यनाटक का आरम्भ महाभारत के युद्ध की समाप्ति के बाद पहली रात से होता है और उसी एक घटनास्थल पर समाप्त होता है। अश्वत्थामा पाण्डवों की न्यायप्रियता के प्रति तीव्र व्यंग्य और आक्रोश से भरा हुआ है। महाभारत की सारी विसंगतियाँ, युधिष्ठिर के असत्यभाषण की पीड़ा उसे व्याकुल करती है। नाटककार ने उन सभी घटनाओं की शृंखला बनायी है जो अश्वत्थामा को हिंसक बनाती है। युधिष्ठिर द्वारा असत्यभाषण की पीड़ा उसे व्याकुल करती है। अर्जुन द्वारा मस्तकमणि का अपहरण फ़लतः पांडवों के पाँच पुत्रों का वध, पांडवकुल के साथ कौरवकुल के समाप्त हो जाने के विचार से दुर्योधन का हिल जाना और विक्षिप्त हो जाना आदि पक्ष इस कृति की शक्ति को सामने लाने वाले हैं। दोनों द्रोण और अश्वत्थामा की आत्मग्लानि के नाटक हैं और दोनों में स्वोक्ति का आधार लिया गया है जिससे वे बड़े विश्वसनीय स्वाभाविक, प्रभावी लगते हैं।

इस प्रकार के नाटकों के अतिरिक्त कुछ ऐसे श्रव्य काव्य रुपक भी होते हैं जो प्रचारात्मक भी होते हैं और पूर्णतः साहित्यिक भी होते हैं। इस प्रकार के रुपकों में प्रायः संगीत और भावोचित वाणी द्वारा काव्यपाठ कराया जाता है। भट्ट जी का "कालिदास" इसी प्रकार का साहित्यिक संगीत रुपक है जो मुख्यतः कालिदास के जीवन और साहित्य पर आधारित है। "कालिदास" में भी अंक, दृश्य, घटनास्थल नहीं है और यह कालिदास जैसे महान् साहित्यकार के व्यक्तित्व और कृतित्व के प्ररेणा-स्रोत का दर्शन कराता है। आरम्भ में जन-चर्चा के साथ चीनी यात्री फाह्यान द्वारा कालिदास के समय का, सुख-समृद्धि का वर्णन किया गया है। फिर सूत्रधार कालिदास की ऋतुसंहार, मेघदूत, अभिज्ञानशाकुन्तलम्, कुमार-सम्भव, रघुवंशम् आदि कृतियों के मार्मिक उद्धरणों का वाचन करता है। पूरे रूपक के अधिकांश स्थल मूल रचनाओं के अनुवाद जैसे लगते हैं।

"मेघदूत", "विक्रमोर्वशीय", "मदन दहन" और "सौदामिनी" भी महत्त्वपूर्ण श्रव्य काव्य रूपक हैं। "मेघूदत" और "विक्रमोर्वशीय" को एक प्रकार से कालिदास की रचनाओं के ही रेडियो रूपान्तर कहा जा सकता है। "एकला चलो रे" का केन्द्रीय भाव रवीन्द्रनाथ टैगोर की कविता से लिया गया है। यह रूपक टैगोर के ही बंगला गीत से आरम्भ होता है। उसके बाद कई स्वरों में नैरेशन होता है। नाट्य तत्व का अभाव होते ही यह काव्य रूपक श्रव्य रूपक की दृष्टि से कलात्मक है। भाषा और भाव के आन्तरिक सम्बन्ध, रेडियो माध्यम की सीमाओं और संभावनाओं को रचनात्मक स्तर पर अनुभव करते हुए इनकी रचना हुयी है। यह एक संगीत रूपक है जो सत्य अहिंसा, प्रेम के प्रतीक गाँधी जी को श्रद्धांजलि अर्पित करने के रूप में रचित है। इस रूपक का आधार नोआखाली यात्रा है। दरअसल बुद्ध, ईसा, मुहम्मद पैगम्बर की तरह गाँधी भी अकेले मानव कल्याण पथ पर चले। नोआखाली में हुए उपद्रवों से त्रस्त मानवता को गाँधी सत्य, अहिंसा, प्रेम का संदेश देते हैं। इस अर्थ में यह रूपक नोआखाली यात्रा को प्रतीक मानकर वस्तुतः गाँधी के महान व्यक्तित्व को प्रस्तुत करता है और लेखकीय दृष्टिकोण को सामने लाता है। अंक, दृश्य रहित यह रचना एक प्रयोग की तरह भी उभरती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि श्रव्य काव्य रूपकों को एक निश्चित स्वरूप विधान देने में उदयशंकर भट्ट का विशेष योगदान है। रोचकता का ध्यान रखकर नैरेशन की एकरसता से बचने के लिए दो स्वरों – पुरुष स्वर, स्त्री स्वर—का उपयोग, छोटे-छोटे भावात्मक वाक्यों की रचना, प्रवाहमयता और गतिशीलता, वर्णनात्मक प्रसंगों को अधिक से अधिक नाटकीय बनाने का प्रयास आदि ऐसे तत्व हैं जिनके प्रयोगों ने "कालिदास" और "तुलसीदास" काव्यरूपकों

को इतना चर्चित किया। साहित्यिक, कलात्मक और वैज्ञानिक स्तर पर उस समय रेडियो नाटक एक "आधुनिक उपलब्धि" कहा जाता था जिसने हिन्दी नाट्यजगत को बीस-पच्चीस वर्ष आन्दोलित किये रखा। इस आन्दोलन, विकास और उपलब्धि में उदयशंकर भट्ट की महत्वपूर्ण भूमिका थी।

"अशोक-वन-वन्दिनी" और "नहुष-निपात" भी भट्ट जी के प्रभावशाली रेडियो पद्य नाटक हैं। संवदेनशील कवि और नाटककार होने के कारण इन दोनों रचनाओं में कथ्य और शिल्प दोनों की कसावट है और रेडियो की मौलिकता के अनुभवी होने के कारण श्रव्य माध्यम की विशेषता भी है। नारी वेदना और नारीत्व के चरमोत्कर्ष का नाटक "अशोक-वन-बन्दिनी" सीता को भारतीय संस्कृति के प्रतीक के रूप में चित्रित करता है। प्रथम दृश्य में सीता-राम की स्मृति में डूबी हैं। सीता की भक्ति और संकल्प के कारण त्रिजटा राक्षसी द्वारा लिये गए राम को भुलाने के सारे प्रयत्न व्यर्थ हो जाते हैं। सीता वध के लिए तत्पर कुंठित रावण को मंदोदरी रोकती है। इसी दृश्य में हनुमान सीता को बन्धन-मुक्ति का आश्वासन देते हैं। सीता का अन्त में मंदोदरी को पत्नी धर्म का महत्व समझाना और मंदोदरी का प्रभावित होकर पति को सन्मार्ग पर लाने की ओर प्रवृत्त होना लेखक की "रचना-सोद्देश्यता" और भारतीय सांस्कृतिक दृष्टि को प्रकट करता है। अंक रहित और केवल एक दृश्य (उद्यान) ही से इस नाटक की भी रचना हुई है। लेखक का ध्यान घटनाओं और प्रसंगों पर उतना नहीं है जितना मार्मिक क्षणों, द्वन्द्व और प्रभावान्विति पर। भट्ट जी इस बात को अच्छी तरह समझते हैं कि "रेडियो नाटक", "पात्र प्रमुख" नाटक है। पात्रों के संवाद की क्षिप्रता, बोलने का ढंग, स्वर की मिठास या उसकी उग्रता, पौरुष, वाक्यों की स्पष्टता, कोमलता, स्निग्धता, शैली, प्रौढ़ अभिव्यक्ति आदि कुछ वे बाते हैं जिन्हें किसी प्रकार भी भुलाया नहीं जा सकता। इसलिए पात्रों की बात के साथ कथावस्तु, प्लाट भी साफ होता है, बोझिल, या पेचीदा नहीं।" (साहित्य के स्वरः रेडियो नाटक, पृ.91) उदयशंकर भट्ट रेडियो नाटक की "श्रव्यता" और उसकी "साहित्यिकता" को लेकर हमेशा सतर्क थे। उनकी मान्यता है कि संवाद-कौशल, मार्मिक चित्रण, "क्लाइमेक्स" के प्रति तीव्रता आदि की दृष्टि से उसे साहित्य का रूप दिया जा सकता है। आरोपमात्र होने से जैसे रंगमंच के नाटक में त्रुटियाँ हैं फिर भी वह अपने में पूर्ण हैं, उसी तरह रेडियो का नाटक अपूर्ण होते हुए भी दृश्य-नाटक की तरह व्यापक, सशक्त और साहित्य बन सकता है।" (साहित्य के स्वर, रेडियो नाटक और उसकी उपलब्धि, पृ. 105)

उदयशंकर भट्ट द्वारा कई वर्ष तक वह भी तीव्र परिवर्तनों के दौर में — विपुल नाट्यसाहित्य का रचा जाना उनकी रचना-क्षमता उनके चिंतन और युग

संदर्भों के प्रति लेखकीय दृष्टि को सामने लाता है। जो विषय-वैविध्य उनमें है, जो शिल्प का तकनीकी और व्यावहारिक पक्ष भी उनमें है और नवीन संवदेनाओं के लिए नवीन संरचना-पक्ष भी ले आने की ललक उनमें है। वह निश्चय ही समय के साथ उनके लगाव का, सूक्ष्म सौंदर्य-दृष्टि का परिणाम है। उनके गीतिनाटक, एकांकी, रेडियो नाटक इसके प्रमाण हैं।

5

उपन्यास

प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यासकारों में उदयशंकर भट्ट ने अपने "वह जो मैंने देखा" (1945), "नये मोड़ ; डॉ. शेफाली" (1953) और "सागर, लहरें और मनुष्य" (1955), "लोक परलोक" (1958) से अपनी उपन्यास कला का परिचय दिया। आलोचक उनके उपन्यासों को यथार्थवादी परम्परा का उपन्यास भी कहते हैं और व्यक्तिवादी उपन्यास भी। उन उपन्यासों में कथानक का जो विस्तार है, जो वैषम्य, अन्तर्विरोध और विसंगतियाँ हैं, विभिन्न चरित्रों के जो जटिल द्वन्द्व हैं, उनका जिस प्रकार चित्रण है, वह भट्ट जी के इस विचार की पुष्टि करता है कि जो बातें वह नाटक या कविता में नहीं कह पाते, उन्हें व्यक्त करने के लिए उपन्यास-रचना करते हैं। उपन्यास के विशाल कैनवेस को वह साहित्य में "सम्पूर्ण की उपलब्धि", "पूर्ण जीवन की उपलब्धि", "जीवन के सर्वश्रेष्ठ क्षणों की गाथा" कहते हैं। जीवन के व्यापारों की तरफ उपन्यासों का भी रूप-वैविध्य है और आज के मनोविज्ञान ने जो जीवन की अन्तर्प्रेरणा के स्रोतों का अभिनव उद्‌घाटन कर दिया है उससे उपन्यास वस्तु जहाँ अधिक मर्मस्पर्शी, अधिक जटिल हो गयी है, वहाँ व्यापारों की क्रिया-प्रतिक्रिया भी पहले की अपेक्षा अधिक मूर्त हो उठी है। व्यक्ति के स्वतन्त्र चिंतन ने समाज की तथाकथित मर्यादाओं पर भी काफी चोट की है।" (उपन्यास साहित्य : साहित्य के स्वर, पृ. 114) उनका यह दृष्टिकोण उनके सभी उपन्यासों में प्रकट होता है। सामाजिक व्यवस्था, उसका स्वरूप, उस समाज के अनिवार्य अंग मनुष्य, मानव-स्वभाव का ही चित्रण उनमें नहीं है, जिस जीवन-पद्धति से वे जीते हैं, उस दिनचर्या और जीवन-शैली में उनकी जो अनेकानेक समस्यायें हैं, – उसके चित्रण की सामर्थ्य, उन रूपों-समस्याओं का अनुभव भट्ट जी के पास है। चारों उपन्यासों को पढ़कर यह कहना असम्भव नहीं है कि उनकी कला और औपन्यासिक मौलिकता क्रमशः

विकासमान रही है।

वैयक्तिक स्वतन्त्र-चेतना को चित्रित करते हुए भी भट्ट जी के उपन्यास मानवीय मूल्यों को साहित्य में प्रतिष्ठित करते हैं। उल्लेखनीय है कि वैयक्तिक स्वतन्त्रता और सामाजिक बन्धनों के विरुद्ध विद्रोह भावना को व्यक्त करने के लिए लेखक ने अपने कई नाटकों की तरह यहाँ भी नारी को ही व्यक्ति रूप में आधार बनाया है। व्यक्ति के अस्तित्व और गरिमा को भी वह नारी के माध्यम से ही स्थापित करता है और परम्परागत रूढ़ियों के विरुद्ध तीव्र संघर्ष की भूमिका भी नारी ही निभाती है। इस अर्थ में "नये मोड़" और "सागर, लहरें और मनुष्य" मुख्यतः नारी मुक्ति और उस बहाने मानव-मुक्ति के उपन्यास कहे जा सकते हैं। "नये मोड़" की डॉ. शेफाली और "सागर, लहरें और मनुष्य" की रत्ना उस विद्रोह-चेतना और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की प्रतीक कही जा सकती हैं, जिसके कारण कुछ आलोचक इन उपन्यासों को व्यक्तिवादी उपन्यासों की श्रेणी में रखते हैं।

"नये मोड़" का केन्द्रीय पात्र डॉ. शेफाली है और उपन्यास की सारी क्रियायें, कथानक और सम्पूर्ण घटनाक्रम उसी के इर्द-गिर्द चलते हैं। शेफाली साधारण मध्यवर्ग की लड़की है जिसका विवाह एक सामान्य पढ़े लिखे लड़के से हो जाता है, पर बारात विवाह के बाद लौट आती है। शेफाली की माँ उसे पढ़ा लिखाकर डाक्टर बनाती है। यहाँ से शेफाली के जीवन और अन्तर्मन के उतार-चढ़ाव शुरू होते हैं। आर्थिक संकट से मुक्त होने के बाद वह अपने आवेगों को, मानसिक लहरों को रोक नहीं पाती। शेफाली अपनी अदम्य इच्छाओं में आगे बढ़ना चाहती है पर हिन्दू परिवार की रूढ़ मर्यादाओं में बँधी रहने के कारण उतना आगे नहीं बढ़ पाती। उसकी उमंगें, अन्तर्मन विद्रोह करता है पर विद्रोह की भी उसके सामने एक सीमा है ताकि उसके डाक्टरी पेशे को किसी प्रकार की हानि न हो, सुसंस्कृत, आस्थावान होने के कारण उच्छृंखलता उसे स्वीकार्य नहीं है। विरासत में उसे रूढ़ियाँ मर्यादायें भी मिली हैं, पर वर्तमान जीवन की स्वाभाविक उमंग और स्वातन्त्र्य-भाव भी है। सोचने समझने की शक्ति भी है। एक प्रकार से आज के सामान्य मध्यवर्ग के संघर्ष का प्रतीक और यथार्थ भी वह है। "नये मोड़" में शेफाली के सन्दर्भ में स्वयं लेखक का कथन है कि "विवेक और विचारों के दोनों किनारों से टकराती हुई जो तीव्र वेगवती कामना की नदी उसमें बह रही है वह उन्हें तोड़ने लगती है और चाहती है कि खुलकर मुक्त वातावरण में विचरे। समाज का व्यवधान वह तोड़ देना चाहती है पर उसको तोड़ देने पर भी क्या वह ठीक तरह से रह सकेगी ? शेफाली के भीतर यही प्रश्न उठते रहते हैं। मध्यवर्ग में ऐसी अनेक घटनायें होती हैं जहाँ इस दमन, तनाव में व्यक्ति कुंठाग्रस्त हो जाता है।"

राम मोहन अपने माता-पिता के न चाहने पर भी साधना से विवाह करता है। साधना सुन्दर है और राममोहन धनवान। शेफाली प्राणनाथ जैसे बैरिस्टर के सम्पर्क में आती है– उसके रूप और प्रभावशाली व्यक्तित्व से वह प्रभावित होती है। यद्यपि प्राणनाथ गरीब है। सारे आकर्षण के बावजूद वह उसे आत्मसमर्पण नहीं करती। सौन्दर्य, तृप्ति और विवेक का यह संघर्ष उसमें बराबर चलता है। राम मोहन की पत्नी साधना को वह इलाज से ठीक भी करती है और उससे स्त्रियोचित ईर्ष्या भी करती है। डाक्टरी को जन-सेवा के अर्थ में लेते हुए प्रकार से वह अपने शून्य को भरती है अपना उदात्तीकरण भी करती चलती है। मातृत्व की गहरी चाह भी उसके भीतर उमड़ती रहती है। किन्तु शेफाली न तो अपने पति को छोड़ पाती है न पति राम मोहन की तरह दूसरा विवाह कर सकती है। विवशता और अधिकार का यह प्रश्न बार-बार उसके मन में उठता है। उसे शेफाली और प्राणनाथ वैवाहिक सम्बन्ध नहीं छोड़ सकते। शेफाली के व्यक्तित्व को लेकर आगे चलकर राम मोहन में भी अन्तर्द्वन्द्व पैदा होता है। उसके शेफाली की तुलना में साधना प्रभावित नहीं कर पाती। उपन्यास में शेफाली विवाह-बंधन से मुक्त तो नहीं होती पर अप्रत्यक्ष-प्रत्यक्ष रूप में नये मोड़ की खोज के लिए अवश्य चल देती है। यह खोज और प्रस्थान वस्तुतः शेफाली का ही नहीं, लेखक का, उस युग के स्वतन्त्र चेता मानव का और विद्रोह का, द्वन्द्वात्मक भूमि का प्रतीक है।

उपन्यास में शेफाली के साथ-साथ अन्य स्त्री पात्र भी हैं। शुभदा, तारा, हीरादेई। बंगाल के अकाल में वेश्या के घर से प्राप्त लड़की शुभदा के मन में विद्रोह की आग है – जीवन, धर्म, समाज के प्रति विद्रोह। सामाजिक विषमताओं, पूँजीपतियों के प्रति उसे गहरी वितृष्णा है। स्वयं भट्ट जी ने अपने निबन्ध में स्पष्ट किया है कि "शुभदा बंगाल और बंगाली जाति की कष्ट-मुक्ति का स्वप्न देखती है। जबकि शेफाली एकदम विशाल दृष्टिकोण की स्त्री है। शुभदा में प्रान्तीयता का विष और प्रतिशोध की धधकती ज्वाला है, शेफाली में विशाल भारतीय चेतना। तारा भी इसी प्रकार सामाजिक विषमताओं की आग को पी जाने वाली, पार्टी के लक्ष्य के लिए अपनी कामनाओं को पूर्णतः विसर्जित करने वाली स्त्री है। हीरा देई साधारण और रूप यौवन-सम्पन्न स्त्री है जो केवल क्षणिक स्थूल सुखों और वासना-तृप्ति में संतुष्ट है।

"नये मोड़" के सभी पात्र मध्य वर्ग के हैं। राम मोहन व्यापारी वर्ग का प्रतीक है – धन और स्त्री दोनों को उपभोग की वस्तु मानने वाला। प्राणनाथ एक भौतिकतावादी विचारक है। यथार्थवादी, चतुर कम्युनिस्ट बुर्जुआ, फैशनेबुल, वाक् कुशल और शेफाली को अपनी पत्नी बना लेने की कामना उसका लक्ष्य है।

हीरादेई का पति जगन्नाथ कमजोर परिस्थितियों का चित्र है – सामाजिक परिवर्तन की इच्छा भी है उसमें और वह अपनी दुर्बलताओं, उमंगों का दास भी है। एक और पात्र है डॉ. चौधरी - पूर्व क्रान्तिकारी और निराश अध्यात्मवादी। उन्हें आज के युग में साम्यवादी, पलायनवादी माना जा सकता है। जाहिर है कि सभी पात्र आज के समाज की कमजोरी के प्रतीक हैं। लेखक के शब्दों में "यही आज के समाज का यथार्थवादी चित्र हैं। वे आदर्शवादी नहीं हैं – वे स्वयं अपना आदर्श ढूँढना चाहते हैं। स्वतन्त्रता के बाद का एक पूरा युग उस समय को सामने लाता है, जिस समय प्राणशास्त्र, सिद्धान्त झूठे पड़ रहे थे और जीवित मनुष्य को स्वयं अपनी दिशा तलाशनी थी।

यथार्थवाद और मनोविश्लेषणवाद दोनों का समन्वित रूप इस उपन्यास में है। मैं यथार्थ में स्वाभाविकता के साथ मनोविश्लेषण शास्त्र की सहायता को स्वीकार करता हूँ और मन की अंतरंग विकृतियों को प्रदर्शित करके उनके स्वाभाविक उत्थान पतन को देखना चाहता हूँ" (नये मोड़ : डॉ. शेफाली, साहित्य के स्वर, पृ. 151) भट्ट पात्रों को और अपने वर्णनों-चित्रणों को नग्न होने से बचाते हैं क्योंकि नग्नता में वह विश्वास नहीं करते, न समाज को वह वैसा अनावृत मानते है। लेखक स्वयं मध्यवर्ग का है और ईमानदारी से उसका चित्रण करता है। भट्ट जी का मानवतावादी व्यक्तित्व, उनके संस्कार उन्हें रोकते हैं। "नये मोड़ : डॉ. शेफाली" को घटना प्रधान या चरित्र प्रधान उपन्यास के रूप में वर्गीकृत करना भी निरर्थक है। वस्तुतः "इसमें परिस्थितियों से विकृत समाज का चित्र है। यह दूसरी बात है कि उपन्यासकार यहाँ अपने भावों-विचारों-आदर्शों का प्रतिनिधित्व पात्रों से कराता हुआ लगता है और यह भी कि वह कथानक और उसके विस्तार का उपयोग नये मोड़ की खोज में कम करता है, चरित्र चित्रण के विकास का अधिक। और चरित्र-चित्रण में भी या तो मनःस्थितियों का विश्लेषण है या लेखकीय विचारों की अभिव्यक्ति। इसलिए चरित्र उतने स्वतन्त्र नहीं रह जाते। उपन्यास भारतीय नारी की दुविधाग्रस्त स्थिति और विसंगति का चित्रण कर जाता है। जहाँ आर्थिक स्वातन्त्र्य, शिक्षा, व्यक्तित्व, विद्रोह, कानून के बाद भी स्त्री पुरुष द्वारा शोषित है। लेखक की सफलता नारी की व्यक्तिवादी चेतना को उत्कट भावना को प्रखर शक्तिशाली भाषा और स्वर देने में है। व्यक्तिवादी दृष्टि और मानवता के स्वर का सामंजस्य इस उपन्यास में है।

उदयशंकर भट्ट की तीसरी उपन्यास-रचना "सागर, लहरें और मनुष्य" हिन्दी में सागर, लहरों, लहरों के तूफानी जीवन और मछुआरों के जीवन के सूक्ष्म चित्रण के कारण बहुत महत्वपूर्ण माना गया। स्वयं भट्ट जी समुद्री मछुओं के जीवन पर हिन्दी में इसे अपना पहला प्रयास मानते हैं। इसलिए भारतीय भाषाओं

में तो नहीं पर हिन्दी में यह एक नया अनुभव था। अतः आलोचना-प्रत्यालोचना, आकर्षण का केन्द्र भी बना। इस उपन्यास का रेडियो से नाटक-रूप में भी प्रसारण हुआ और लेखक मित्रों के आग्रह पर भट्ट जी ने मछुओं के सम्बन्ध में अपने अनुभवों और इस उपन्यास के लिखने की प्रेरणा के स्रोतों-आधारों को भी लेख के रूप में लिखा। उनके अनुभवों के ब्यौरे बेहद आत्मीय हैं। 'समुद्रों का भ्रमण-दर्शन करने के बाद मेरे मन में यह विचार कई बार उठा कि हिन्दी साहित्य में समुद्र का नितान्त अभाव है।' समुद्र और मछुआरों की तीव्र अन्तरंगता ने उपन्यास का फ्रेम तैयार कराया। कई आलोचकों ने इसे जीवनानुभवों की ताजगी और वर्णन-चित्रण की क्षमता के यथार्थवादी और कलात्मक उपन्यास के रूप में उनके पिछले दोनों उपन्यासों की तुलना में इसे महत्त्वपूर्ण कहा। (आंचलिक उपन्यास की पूर्णतः तो नहीं पर आंशिक रूप में संज्ञा दी जा सकती है) लेखक ने "सागर को वाणी दी है, लहरों से बातें की हैं और सदियों से सोई मछलीमारों की आत्मा पहचानने की आँखें प्रदान की हैं।"

"सागर, लहरें और मनुष्य" उपन्यास का क्षेत्र बम्बई के पश्चिमी तट पर बसे हुए बरसोवा नामक मछुओं का गाँव और उससे सम्बद्ध बम्बई नगर है जहाँ मछुआरे मछली मारकर बेचकर जीवन-यापन करते हैं। मछुआरों और एक क्षेत्र अथवा अंचल विशेष की जीवन-पद्धति, रीति-रिवाज, बोली, समस्या आदि की प्रवृत्ति के कारण इसे आंचलिक उपन्यास के रूप में भी देखा गया – लेकिन आंचलिकता होते हुए भी चूंकि उपन्यास आगे के कथा भाग में स्वतन्त्र चित्रण करने लगता है – आंचलिक उपन्यास की अवधारणा समग्रता में उपलब्ध नहीं होती। उपन्यास की मूल शक्ति असभ्य, अशिक्षित प्राचीन संस्कारों से ग्रस्त मछुवा जाति के आचार-विचार, जीवन के प्रति उनके निजी नजरिये का चित्रण है। "आधुनिक सभ्यता की उलझनों एवं प्रदर्शनों से असंपृक्त इस जाति की बाह्य कुरूपता के भीतर जो मानवीय सौन्दर्य निहित है, उसका निरीक्षण तथा उद्‌घाटन लेखक ने प्रस्तुत उपन्यास में किया है। सागर उस विराट शक्ति का प्रतीक है, जो मछलीमारों के जीवन को संचालित करती है और जिसकी वे देवता के समान पूजा करते हैं। उनके दृष्टिकोण को ढालने में सागर का गहरा हाथ है। उनके जीवन में धीरे-धीरे नगर की व्यक्तिवादी चेतना संचरित होने लगती है। उनके पुराने रूढ़िवादी संस्कार शिथिल पड़ने लगते हैं। इस चेतना को व्यंजित करने के लिए लेखक ने एक ऐसी नारी के जीवन का अंकन किया है जो उपन्यास की केन्द्र बिन्दु है, जिसके चहुँ ओर समस्त घटनाचक्र घूमता है।"

इस उपन्यास का शिल्प कोई नयापन लिये नहीं है। पुराने उपन्यासों की तरह लम्बे चौड़े वर्णन हैं और काव्यमय रमणीय चित्रण हैं। पर भाषा का रचाव

अवश्य इसकी ताकत है। मछुआरों की स्थानीय बोली का, विभिन्न जातियों की बोली का प्रयोग इसके वर्णनों को जीवन्त और सहज बनाता है। "सागर, लहरें और मनुष्य" की रचना यात्रा को लिखते हुए जब वह उसकी कहानी और प्रेरणा के विषय में बताते हैं तो उस लड़की की भी चर्चा करते हैं जिसने उन्हें वहाँ के जीवन, भाषा, रीति-रिवाज बताये और जो अनजाने में ही अचानक उपन्यास की नायिका बन गयी। भट्ट जी बताते है कि, "वह जो भाषा मुझे समझाने के लिए बोलती थी उसी बोली को संवाद रूप में मैंने लिखा है। वस्तुतः उन मछुओं की भाषा मराठी है। मराठी लिखना और समझना उपन्यास में उसका प्रयोग करना एक गलत बात होती यही सोचकर मैंने बम्बइया बोली को संवाद का रूप दिया।" (सागर, लहरें और मनुष्य : साहित्य के स्वर, पृ. 156) इस प्रयोग पर हास्य और व्यंग्य का जो पुट सर्वत्र मिलता है उसने उपन्यास को एक नया रंग दिया है।

इस उपन्यास को आंचलिक उपन्यास की संज्ञा दी जा सकती है पर जिस "आंचलिकता" के साथ इस उपन्यास का आरम्भ होता है और कथा विकसित होती है, आगे चलकर कथानक का मोड़ भी सहज जीवनधारा से अलग हो जाता है। सम्भवतः रत्ना का चरित्र और विभिन्न परिस्थितियों में उसके व्यक्तित्व को डालकर उसकी संरचना, उसकी परख लेखक का मुख्य आकर्षण हो जाता है और मछुआरों के जीवन की सम्पूर्णता छूट जाती है। व्यक्तिवादी जीवन दर्शन के आग्रह से भी लेखक इतना ग्रस्त है कि मछुआरों की प्रामाणिक झाँकी और जीवन रस का सौन्दर्य वहाँ नहीं रह जाता। शंकर पिल्ले के "मछुआरे" उपन्यास में मछुआरों के जीवन और उसके चित्रण की जो प्रवाहमयी स्वाभाविक गंध है, उसका इसमें अभाव है। मछुआरों के जीवन आपसी व्यवहार, विश्वास, आचार-विचार को उन्हीं की भाषा और जीवन-संगीत में प्रयुक्त करने के प्रयास का प्रतिफल यह उपन्यास है। आंचलिकता की दृष्टि से भारतीय उपन्यासों में श्रेष्ठ उपन्यास "सागर, लहरें और मनुष्य" को भले ही न कहा जाये पर इसकी विषयगत नवीनता मौलिकता और "समुद्र" ने अवश्य सबको प्रमाणित किया।

यद्यपि उदय शंकर भट्ट के ये तीन उपन्यास ही हिन्दी में प्रतिष्ठित हुए लेकिन उनका 'लोक परलोक' (1958) उपन्यास भी अपनी संवदेना और संरचना में भाषा की बनावट और तीखी अभिव्यक्ति में ध्यान आकृष्ट करता है। 'लोक परलोक' उपन्यास भी नारी चेतना का उपन्यास है। स्वतन्त्रता के बाद देश की चारों ओर बदलती परिस्थितियों, मूल्यों और भ्रष्टाचार के बीच, जीवन की सारी विसंगतियों के बीच अकेली जूझती-लड़ती चमेली केन्द्रीय पात्र है। उसी के जीवन-प्रवाह में आती हुई विभिन्न घटनाओं और उत्थान-पतन से लेखक जैसे पूरे देश का खाका खींच देता है। संस्कारहीन चमेली उन स्त्रियों में से है, जिनके

मन का विकास उच्छृंखल विलास में होता है। वह लहर की तरह अनियंत्रित बहती चली जाती है। अन्ततः उसके विकार धीरे-धीरे दूर होते हैं। वह प्रायश्चित की आग में तपती है। बाबा में उसे अज्ञात शक्ति का आभास होता है। जिन-जिन लोगों के सम्पर्क में वह आती है — शिवचर, औघड़ बाबा, ललिता, रघुनन्दन, सब समाज के अलग-अलग पक्ष हैं — प्रेम, श्रद्धा, कामवासना, सरल निष्काम, मानवीय प्रेम के प्रतीक। उपन्यास में बदलता हुए समाज है जिसमें ठाकुर, ब्राह्मण भी हैं और चमार भंगी भी। सब अपनी कमेटियाँ बनाकर जागृत और सक्रिय हैं। चारों ओर का समाज, चमेली के उतार-चढ़ाव जहाँ लोक के विद्रूपत्व का, वीभत्स पक्ष का, अमानवीयता का चित्रण करते हैं, वहीं मानवता के करुण और सुन्दर पक्ष का भी। देश की बदलती परिस्थितियाँ, बदलते मूल्य जैसे साकार हो उठते हैं। चरित्र के वैचित्र्य को लेकर भट्ट जी ने जिस तरह समाज का पूरा खाका खींच दिया है और निम्न वर्ग की अस्मिता और जिजीविषा को साकार कर दिया है, वह उनकी रचना-शक्ति को सामने लाता है।

6

निबन्ध

जितना बहुआयामी व्यक्तित्व उदयशंकर भट्ट का है उतने ही वैविध्यपूर्ण उनके निबन्ध हैं, जो साहित्य की विभिन्न समस्याओं, प्रयोगों, साहित्य के दायित्वबोध से सम्बद्ध हैं और निरन्तर होने वाले परिवर्तनों, आन्दोलनों से उठते प्रश्नों के साथ ही नयी विधाओं के स्वरूप और मूल्यांकन को लेकर लिखे गये हैं। कुछ निबन्ध अपनी ही कविता, उपन्यास, नाटक से सम्बन्धित हैं। जैसे "साहित्य की समस्या", "साहित्य के स्वर", "साहित्य के प्रयोग और उनकी दृष्टि" अथवा "नाट्य नाटककार और रंगमंच" "उपन्यास साहित्य" अथवा "मेरी रचना के स्रोत", "सृजन से पूर्व और पश्चात्" "मेरे जीवन के मोड़"। "साहित्य के स्वर" (1961) में संकलित ये निबन्ध यद्यपि सम्पादकों अध्यापकों के आग्रह पर लिखे गए हैं पर इनमें चालीस पचास वर्ष का पूरा युग और भट्ट जी का व्यक्तित्व बोलता है। इसलिए इन निबन्धों का महत्व वैचारिक दृष्टि से भी है और रचनाकार की आत्म विश्लेषणात्मक रचना दृष्टि और युग-चेतना को समझने की दृष्टि से भी। इस अर्थ में ये निबन्ध रचनात्मक और समीक्षात्मक हैं साथ-साथ कभी-कभी इनमें संस्मरण जैसा स्वरूप भी झलकता है। भट्ट निबन्धकार के रूप में साहित्य और लेखक के इस मूलभूत प्रश्न का उत्तर खोजना चाहते हैं कि लेखक स्वयं क्या है ? और साहित्य की निष्पत्ति क्या है ? जाहिर है वह लेखक को व्यक्ति से अधिक समष्टि के प्रतिनिधि के रूप में देखते हैं और साहित्यकार का चरम लक्ष्य "जीवन के सत्य की उपलब्धि" मानते हैं। साहित्य की चेतना व्यक्तिगत न होकर सामाजिक है। सृष्टा की अभिव्यक्ति स्वांतः सुखाय नहीं है। लेखक में आदर्श और यथार्थ दोनों है, उसके लेखन में व्यक्तिस्वातन्त्र्य और सामाजिक स्वातन्त्र्य दोनों है — बिना किसी वाद की सीमाओं में अपने को बाँधे लेकिन वह कोई सुधारक या नेता भी नहीं है। भट्ट जी का विश्वास है, वह

सृजन को एक आनन्ददायिनी क्रिया मानते हैं। "सृजन के पूर्व से लेकर समाप्ति तक एक तन्मयता, समाधि की अवस्था। लेखन विशेषकर बड़ा नाटक, उपन्यास या कोई बड़ा काव्य रचना जैसे तनाव से मुक्ति का, "रिलीफ" का, स्वर्ग-सुख का अनुभव कराता है। लेकिन इस स्वर्ग सुख, आत्मानन्द के आगे जो व्यावहारिक संकट, विरोधाभास है उनको भी उन्होंने भोगे हुए अनुभव के रूप में "साहित्य के स्वर" में व्यक्त किया है। सामान्य साहित्य लेखन, आज की विश्वविद्यालयीय स्थिति हिन्दी आलोचक की पूर्वाग्रहग्रस्त दृष्टि पर वह सीधे कटाक्ष करते हैं –

"उसके पास अधिकार की कशा है। वादों से अभिभूत है। विद्वान् और वक्ता होने के कारण वह विदेशी साहित्य भंडार का ज्ञाता भी है। दुर्भाग्य से वह इतना मुक्त हृदय भी नहीं है कि उसकी तीव्र दृष्टि वाद-रहित होकर जीवन की यथार्थता को समझ-परख सके। उसकी अपनी तराजू है, बांट हैं, अपने तोलने का ढंग है।"

आलोचक द्वारा उत्तम-मध्यम-हीन वर्गों में लेखक को बाँटने की दृष्टि को भट्ट आलोचना का अधूरापन, सीमित नजरिया मानते हैं। उन्होंने व्यावहारिक, बाह्य पक्षों की भी चर्चा की है कि कविता है प्रकाशक नहीं क्योंकि कविता बिकती नहीं। नाटक लेखन को लेकर हिन्दी में विशेष रूप से उठी हुई उसके साहित्यिक एवं रंगमंचीय पक्ष की कठिनाइयों का उन्होंने स्पष्ट संकेत किया है कि जिस तरह बिना वास्तविक अनुभव के संवाद मात्र लिखना नाटक नहीं है उसी तरह रंगमंच के अभिनव प्रयास से उत्कृष्ट लिख देना भी स्थायी रचना नहीं है, मनोरंजन भले ही हो। साहित्य और रंगमंच का समन्वय ही नाट्य लेखन की जटिलता है। अर्थ प्राप्ति के लिए साहित्यिकता पर बल देकर नाटक लिखा जाना और पाठ्यक्रम में लगना इस विडम्बना का भी उन्होंने उल्लेख किया है जो उदयशंकर भट्ट के समय में हिन्दी नाट्य लेखन की वस्तुस्थिति और नियति थी। कहानी, उपन्यास के साथ लेखक के प्रकाशक, पाठक, आलोचक से जुड़े सवालों को उसकी आर्थिक-सामाजिक-साहित्यिक उपलब्धियों पर विचार करते हुए साहित्य के भीतरी पक्ष, उसके अन्तः स्रोतों के सम्बन्ध में भट्ट उसी युग में महसूस करने लगे थे कि आज का लेखक अपने प्रति बहुत कम ईमानदार रह गया है। वादों के घटाटोप और राजनीतिक विवशताओं, प्रभावों के बीच लेखकीय तनाव की चर्चा करते हुए वह यह भी कहते हैं कि –

"प्रगतिवाद जीवन दर्शन का प्रचार और प्रयोगवाद अभिव्यक्ति की नयी शैली, नयी उपमा, नयी वस्तु की खोज में व्यस्त है। ऐसी कोई ठोस चीज नहीं निकल पा रही है जो जन जीवन की निरस्त निराशा को बदल सके।"

भट्ट यह महसूस करते हैं कि तुलसीदास जैसा प्राणवान साहित्य आज नहीं

है, कालिदास जैसा साहित्यकार नहीं है। संभवतः इसके केन्द्र में वह "वादग्रस्त साहित्य" की सीमा मानते है। साहित्य के पास आधारभूत शिलायें नहीं हैं। "साहित्य जीवन की छाया है व्याप्त जीवन। मनुष्य स्वयं एक साहित्य है" — यह भट्ट जी के व्यक्तित्व और साहित्य का मूलाधार है। नवीन और प्राचीन निबन्ध वार्तालाप की, संवादात्मक शैली में है जिसमें अपने पचपनवें जन्मदिवस पर साहित्यकार के सम्बन्ध में उनके विचार पूछे जाने पर वह कहते हैं कि —

"नियम तो यह है कि यदि साहित्य व्यापक हुआ है तो साहित्यकार को उसी अनुपात से विशाल और उदार होना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं है। जितना ही साहित्य बहुमुखी हुआ है साहित्यकार का ज्ञान तो अवश्य उतना व्यापक हुआ है पर आचारगत सहृदयता उतनी विशाल नहीं हुई है।" "साहित्यकार का दायित्व" "नाटक" में उन्होंने स्पष्ट कहा है कि वाद-प्रवाद के चक्कर में लेखक की दृष्टि स्पष्ट नहीं है। अन्वेषण में लगा मन अस्पष्ट है। भट्ट जी के अनुसार "मार्क्स या फ्रायड" की प्रतिपत्तियाँ अब स्वयं देयहीन है। फिर मार्क्स काव्य या नाटक का रूप ग्रहण करके अपने अन्तरंग के सौन्दर्य या काव्य सौन्दर्य को वह नहीं दे पा रहा है जिससे काव्य की शक्तियाँ चिरस्थायी होती हैं। इन मूल्यों को भट्ट अस्वीकार नहीं करते पर इन्हें वे "कालकृत आवश्यकता" समझते हैं और यह कि वे सारी आवश्यकतायें साहित्य की धारा में प्रवर्तित हो सकती हैं स्वयं साहित्य नहीं हो सकता।"

यह उल्लेखनीय है कि साहित्यकार के दायित्व की चर्चा करते हुए उदयशंकर भट्ट ने नाटक और नाटककार के आधार पर अपने विचार व्यक्त किये हैं। यह तथ्य हिन्दी साहित्य के सन्दर्भ में ज्यादा महत्त्वपूर्ण है क्योंकि सम्भवतः हजारी प्रसाद द्विवेदी को छोड़कर अन्य साहित्यकारों, विशेषकर निबन्धकारों ने नाटक को आधार नहीं बनाया। नाटक से उस प्रकार का अन्तर्बाह्य जुड़ाव और उनके साथ जुड़ा चिंतन नहीं रहा। "साहित्य का उपादान प्रकृति होते हुए भी चेतना स्फूर्ति है, व्यक्ति और समाज की इस अवधारणा को वह सबसे ज्यादा पूर्ण होता हुआ अनुभव करते हैं नाटक में, क्योंकि उनके अनुसार "नाटक का रूप साहित्य में सबसे भिन्न है क्योंकि नाटक स्वयं जीवन्त अनुकृति है समाज या व्यक्ति की। समाज की आस्था या उसकी कमजोरी के प्रति विद्रोह का प्रतीक साधन नाटक है। नाटक में साहित्य के सम्पूर्ण तत्व समाज से प्रतिबिम्बित होते हैं जब कि साहित्य के अन्य अंशों में वे पूर्ण अनुकृति नहीं हैं क्योंकि नाटक पाठक के लिए नहीं है दर्शक के लिए भी है। उसका साक्षात् सम्बन्ध दर्शक से भी है। उस दर्शक से भी जो न साहित्य की सांगोपांगिता ज ानता है, न ऊर्ध्व चेतन है। चूँकि नाटक का सामाजिक क्षेत्र

व्यापक है, उसमें "आचाण्डाल ब्राह्मण" पढ़े-अनपढ़, विद्वान-मूर्ख सभी आ जाते हैं इसलिए उसके दायित्व को भी भट्ट जी इस प्रकार बताते हैं – "व्यक्ति मात्र के प्रति उसके रागात्मक चेतन में सभी की हित दृष्टि का साधारणीकरण। क्योंकि नाटक साहित्य में "सद्यःफल प्रसूति" है।" नाटक दरअसल नाट्यानुकृति है – मनुष्य में जो राग-द्वेष, इच्छा-अनुराग है उन्हीं का नाट्य है।

"साहित्य के स्वर" में कई निबन्ध नाटक से सम्बन्धित है – "नाटक का विकास और विविधा" "नाटक, नाट्यकार और रंगमंच", "रेडियो नाटक और उसकी उपलब्धि", "हिन्दी नाटक की नवीन धारायें", "रेडियो नाटक", "हिन्दी का नाट्य साहित्य" "नाट्य के प्रति मेरा दृष्टिकोण, इन निबन्धों के पीछे भट्ट जी का केवल नाटककार रूप ही मुख्य कारण नहीं है, उनसे पूर्व और उनके युग में नाटक का केन्द्रीय विधा होना और नाटक के विविध रूपों – काव्यनाटक, रेडियो नाटक, एकांकी आदि का बड़ी तीव्रता से विकसित होना और आलोचना की ओर उन्मुख होना अपने आप में विशिष्ट है। इन निबन्धों में नाटक का उत्कर्ष है, नाट्यकला के बदलते प्रयोगात्मक पक्ष हैं, नाटककार का आन्तरिक संघर्ष है कभी रंगमंच को लेकर, कभी आलोचना को लेकर। संस्कृत के आधार पर हिन्दी में नाटक के स्वरूप और उसके विविध भेदों रूपों के विकास पर लिखते समय उदयशंकर भट्ट जिन मुख्य बातों की ओर संकेत करते हैं वह यह कि उन्होंने नाटक को हमेशा उसके "दृश्यात्मक वैशिष्ट्य" के साथ देखा और इस ओर ध्यान आकृष्ट किया कि कदाचित् संस्कृत युग में प्रत्येक महान कवि से काव्य रचना के साथ-साथ नाट्य-रचना करके अपनी प्रतिभा के परिचय की आशा की जाती थी। कालिदास, भवभूति, अश्वघोष सबमें काव्य और नाटक दोनों की रचना प्रतिभा है। लेकिन उस समय भी "मृच्छकटिकम् को वह एकमात्र क्रान्तिकारी और जनता का प्रतिनिधित्व करने वाला नाटक मानते हैं। नाटक को जिस तरह वह परिभाषित करते हैं वह भी उनकी दृष्टि सम्पन्नता और अनुभव को सामने लाता है –

"नाटक वस्तुतः संघर्ष प्रधान होता है। उसमें किसी न किसी प्रकार का अन्तर्द्वन्द्व होना आवश्यक है। संघर्ष या द्वन्द्व चाहे चरित्रप्रधान हो या स्थिति प्रधान। मूलतः नाटक सदा द्वन्द्व से उभरता है। द्वन्द्व से दो विरोधी विचारों के पात्रों, घटना की विषमताओं, वातावरण की टकराहट पाकर अपनी मूल स्थिति में नयी प्रतिक्रिया उत्पन्न करके जीवन को ऊँचा उठाता या गिराता है।" इस निबन्ध का कैनवेस बहुत बड़ा है। इसमें नाटक का पूरा परिदृश्य है – भारतीय, पाश्चात्य वातावरण तथा शिल्प के अन्वेषण का। एकांकी विधा पर भट्ट का लम्बा विवेचन रेडियो, रिपोर्ताज, मूकाभिनय कर उनका विवेचन। "हिन्दी नाटक

की नवीन धारायें में भी संस्कृत नाट्यपरम्परा से लेकर इब्सन, मेटरलिक, बर्नार्ड शा के नाटकों के नए विधान और यथार्थवादी रूप का जो प्रभाव हिन्दी नाटकों पर पड़ रहा था, उसका चिंतनपरक विवेचन किया गया है। संस्कृत के जटिल नियमों से हिन्दी नाटक की मुक्ति, रंगमंचीय एवं सर्जनात्मक दृष्टि से हिन्दी नाटकों में आने वाले परिवर्तनों, "ओपन एयर थियेटर" के प्रभाव के संकेतों में स्वयं एक नाटककार के रूप में उदयशंकर भट्ट का व्यक्तित्व उभरता है। उनका स्पष्ट मत है कि कविता की तरह नाटक साहित्य में जो बहुत परिवर्तन नहीं हुए उसका कारण भारतीय रंगमंच का और स्पष्टतः हिन्दी रंगमंच का अभाव था। नाटकों में "बाह्य और आभ्यन्तर" बदलाव के पीछे सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियाँ थीं जिसने आज के नाटक की वस्तु और स्वरूप को जनव्यापी बनाया। एक उपयोगितावादी दृष्टि पनपी। हिन्दी नाट्यसाहित्य पर उनकी टिप्पणियाँ सारी विसंगतियों और विरोधाभासों का अनुभव लिये हैं। उस समय के समीक्षक इन विसंगतियों को न महसूस कर रहे थे, न व्यक्त। सम्भवतः नाटककार के मन में रंगमंच के अभाव की गहरी कचोट थी — वही नाटक के विकास में सबसे बड़ी बाधा थी। रेडियो नाटक पर उनके निबन्ध दृश्य नाटक की तुलना में रेडियो नाटक के श्रव्य रूप की मौलिकता, को उसके रूप विधान को प्रतिष्ठित करते हैं। भट्ट रेडियो नाटक में "आवाज की कृत्रिमता" और श्रवणेन्द्रिय से उसका सम्बन्ध होने के कारण, शरीर की सबसे बड़ी इन्द्रिय आँख के विषय का अभाव होने के कारण उसमें साहित्य की पूर्णता अथवा उसे साहित्य का अंग माने जाने में बाधा महसूस करते हैं। वस्तुतः "नाटक के प्रति मेरा दृष्टिकोण" उनका निबन्ध आज भी पठनीय है। नाटक के दायित्व को वह सबसे दुरूह मानते हैं क्योंकि "नाटक मानवजीवन का प्रतिबिम्ब है। जहाँ नाटक युग का प्रतीक है वहाँ वह स्वयं अपने में भी एक प्रतीक है। उसकी सांकेतिकता जितनी ही तीक्ष्ण और जितनी व्यापक होगी उतना ही प्रभावशाली वह होगा।" आज के सन्दर्भ में उनका विचार है कि —

"आज नाटक के लिए दो बातों की आवश्यकता है — नये विचारों की वैज्ञानिक दृष्टि से उपस्थिति और रंगमंच का पुनर्निर्माण। मनुष्य की आमूल चेतना में निरन्तर परिस्थितियों के दबाव, संघर्ष, विचारों की क्रियात्मकता के प्रभाव के कारण एक नयी जागृति के आने से नाटककार का दायित्व बढ़ गया है। वह समझते हैं कि "आज नाटककार को अपना कंटेण्ट बदलने की आवश्यकता हैं। आज सब कुछ निर्दिष्ट नहीं है।"

उदयशंकर भट्ट के कुछ निबन्ध वैयक्तिक, रचनात्मक और संस्मरणात्मक हैं जो उनके लेखकीय दृष्टिकोण और रचना-प्रक्रिया की, साहित्य-चिंतन की और

रचनाकार के सरोकार की गंभीर अभिव्यक्ति हैं। "मेरी पहली कविता", "मेरे जीवन के मोड़", "उपन्यास साहित्य", "मेरी रचना के स्रोत", "मेरी प्रिय रचना" इसी प्रकार के निबन्ध हैं – आत्मकथात्मक से रोचक, उत्तेजक और आस्वादपूर्ण। ये निश्चय ही साहित्य और साहित्यकार युग और रचना, साहित्य और पाठक-दर्शक के सम्बन्ध और मूल चिंतन को समझने में सहायक हैं। दो निबन्ध स्वयं अपने उपन्यासों पर उनके वक्तव्य जैसे हैं – अनुभव और अभिव्यक्ति भी इनमें हैं और अप्रत्यक्षतः समीक्षा भी। "सागर लहरें और मनुष्य", "नये मोड़", "डॉ. शेफाली" इसी प्रकार के निबन्ध हैं जो उनके दोनों उपन्यासों को समझने में ही नहीं, उपन्यास रचना के पीछे रचनाकार की आन्तरिक विवशता को और परिस्थितियों, प्रवृत्तियों के अन्तहीन दबाव को जानने का भी आधार बनते हैं। इनमें आत्मप्रशंसा, आत्मालोचन से अधिक अपने को व्यक्त करने की आकांक्षा अधिक है। उन्हीं विचारों में से एक प्रकार से साहित्य के प्रतिमान निश्चित होते जाते हैं।

"उपन्यास साहित्य" निबन्ध में वह स्पष्ट कहते हैं कि विचार-स्वातन्त्र्य की निर्भीक स्वीकृति, वास्तविक अनुभूति एवं समस्याओं का हर सही मार्ग से सुलझाव यही कुछ एक तरह से आज के उपन्यास की मूल प्रेरणा है। किन्तु मेरा मत है कि विचार स्वातन्त्र्य का अर्थ निरंकुशता नहीं है, उच्छृंखलता भी नहीं है, उसमें लक्ष्य के प्रति सद्भावना की एक सतत चेष्टा है जिससे जीवन विध्वंसक न हो जाये।" अथवा अपने उपन्यास "नये मोड़ डॉ. शेफाली" पर लिखते समय उनके ये विचार कि "मैं यथार्थ से स्वाभाविकता के साथ मनोविश्लेषण शास्त्र की सहायता को स्वीकार करता हूँ और मन की तरंग विकृतियों को प्रदर्शित करके उनके स्वाभाविक उत्थान-पतन को देखना चाहता हूँ। समाज का शिल्पीकरण समाज के हित के लिए होना चाहिए, उसे और भी नीचे गिराने के लिए नहीं"। भट्ट जी आज के जीवन और उपन्यास को मात्र प्रेम और उसके विकारों तक ही सीमित रूप में नहीं देखते, जीवन के सर्वांग रूप, उसकी आर्थिक स्थितियों, वैचारिक विषमताओं को भी देखते हुए साहित्य में उनके बीच जीवन सत्य को खोजने में विश्वास करते हैं।

साहित्यकार उनकी दृष्टि में वर्ण, जाति, धर्म, समाज, वर्ग से परे है। भविष्य का निर्माण लेखक के हाथ में है। वह अपने निबन्धों में भी "समन्वित भारत की एकरूपता" की कामना करते हुए भारत में हिन्दी साहित्यकार की इस स्थिति से दुःखी हैं कि वह मात्र अन्तःप्रेरणा से लिखता है, उसे स्फूर्ति, प्रतिभा-विकास के किसी प्रकार के अवसर प्राप्त नहीं होते। "विश्व-भ्रमण", नये अनुभव, विश्व-दृष्टि से अपने देश को देखने की उनकी आन्तरिक आकांक्षा निबन्धों में व्यक्त हुई है–

उनका आत्मविश्वास कहीं डगमगाया नहीं है। उनका "कालिदास का युग" निबन्ध हिन्दू युग के स्वर्ण-काल का पूरा ऐतिहासिक चित्रण करते हुए और कालिदास की जन्म तिथि आदि का अन्वेषण करते हुए उन्हीं की विश्व-प्रसिद्ध रचनाओं के माध्यम से जिस काव्यात्मक भाषा में, रागात्मक संस्पर्श के साथ उस युग के वातावरण, जीवन-पद्धति, उत्सव, प्राकृतिक वैभव का वर्णन करता है, वह जहाँ भट्ट जी के ज्ञान, अनुराग को सामने लाता है, वहीं हजारीप्रसाद द्विवेदी के निबन्ध और व्यक्तित्व की याद दिलाता है। सबसे बड़ी बात यह कि उसमें भी वह एक अपूर्व "सांस्कृतिक निधि", "जीवन की अमरता का घोषित स्वर" निकाल लेते हैं। यह उनके व्यक्तित्व और निबन्धकार की विश्लेषणपरक क्षमता का परिचायक है।

उदयशंकर भट्ट के वैचारिक निबन्धों में "ज्ञान और विवेक की उपलब्धि में हमारा दायित्व" की गणना की जा सकती है यद्यपि यह राष्ट्रभाषा वर्धा के स्नातकों को दिया गया दीक्षान्त भाषण है। स्वभावतः इसमें शिक्षा, विवेक, चरित्र, भाषा और एकता-अनेकता के सवाल उठाये गए हैं। प्रान्तीयता, असमानता से ऊपर उठने की बात कही गयी है। भाषा संदर्भ में आज भी उनके विचार अनुकरणीय हैं —

"मेरा मत है कि हिन्दी यदि समर्थ और समृद्ध हो सकती है तो इन प्रान्तीय भाषाओं के सहारे . . . . . भाषा जब विचार का वाहन है और उसे सारे देश को विचारों का वाहन बनाना है तो निश्चय ही उसे सब भाषाओं से रस ग्रहण करना होगा। उसके बिना वह सम्पूर्ण देश की आकृति, प्रकृति ग्रहण नहीं कर सकती।"

उनके अनुसार पंजाब की स्वर-झंकृति, बंगाल की भावुकता और गम्भीरता, महाराष्ट्र की प्रखरता और ओज, दक्षिण, गुजरात सभी भाषाओं की लय, स्वर, सुरभि हिन्दी को सामर्थ्यपूर्ण बनाएगी। उससे "भारतीयता" साकार होगी। भाषा-ऐक्य के लिए भट्ट जी सभी भाषाओं की एक ही लिपि होने में भी विश्वास करते हैं। उस लिपि में वह अन्य भाषाओं के अक्षरों को बढ़ाना भी आवश्यक समझते हैं ताकि उच्चारण सम्बन्धी असुविधायें अधिक न हों। इससे अन्तरप्रान्तीय भाषाओं के विचार विनिमय आदान-प्रदान, अनुवाद, टाइप और संवाद की सम्भावनायें, एकरूपता बढ़ेंगी। क्योंकि —

"भाषा विचारों का साधन है, साध्य नहीं। साध्य है समन्वय दृष्टि, एकात्मकता, एकरूपता, भारतीयता।"

राजनीति के भारी हस्तक्षेप और प्रभाव के होते हुए भी वह मनुष्यत्व और साहित्य का संवल सर्वोपरि मानते हैं। "साहित्य में व्याप्त अनुभूतियाँ ही अमृत

होकर मनुष्य को मार्ग दिखाती रहती हैं।" आज के साहित्यकार के सामने राजनीति की ओर से एक चुनौती है। राजनीति का स्वर यदि साहित्य से ऊपर रहता है तो सम्पूर्ण मानव जाति का विनाश अवश्यम्भावी है। कहने की आवश्यकता नहीं कि आज के राजनीतिक दौर में भट्ट जी के ये विचार कितने महत्त्वपूर्ण हैं, उद्बोधक हैं और भाषा के पक्ष में स्पष्ट और उदार हैं। राजनीति की विजय जनता और साहित्य के दिवालियेपन का चिन्ह है और आज का समय हमारी परख का समय है। अकल्पनीय भी है क्योंकि प्रश्न केवल भारत की ही रक्षा का नहीं है, प्रश्न है सम्पूर्ण मानव-जाति की रक्षा का। आश्चर्य होता है कि पैंतीस चालीस वर्ष पूर्व ही लेखक ने इस भयानक सत्य को भाँप लिया था। हिंसक प्रवृत्ति, वर्गवादी-विभाजित, कट्टर, अनुदार राजनीति की विकृतियों को उन्होंने तभी अनुभव कर लिया था। भाषा और साहित्य में, शब्द में वह ऐसी शक्ति मानते है जो "भूताविष्ट संसार को अकाल मृत्यु जलद की प्रलय वर्षा से बचा सके। सारे वैविध्य के बीच एकता की पहल उनकी मूल दृष्टि है। वही मुक्ति है क्योंकि उनके लिए मनुष्य से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है। चूँकि यह निबन्ध नहीं, भाषण है अतः इसमें आद्यन्त भाषण जैसी स्वर-रचना और लय है। युवा-वर्ग और युग-चेतना के बीच यह एक ओजस्वी, चिन्तनपूर्ण, सरस, उत्तेजक प्रवाह से युक्त है।

एक अन्य निबन्ध "काव्य का मूल्यांकन" के अन्तर्गत भट्ट जी प्राचीन काल से आज तक काव्य के मूल्यांकन की पद्धति और मान्यताओं पर विचार करते हैं। समय के साथ-साथ काव्य-मूल्यों में परिवर्तन, प्राचीन कड़ियों-सिद्धान्तों का टूटना और प्रत्यक्ष का अनुभव तर्क, विचार, युग-संघर्ष का महत्व बढ़ने — इन तथ्यों का विस्तृत विश्लेषण किया गया है। आज के समय में केवल "आनन्द प्राप्ति के लक्ष्य" से काव्य का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। भट्ट जी शैली, छन्द, शब्द-योजना को काव्य का अंश और माध्यम मानते हैं स्वयं काव्य नहीं। उनके शब्दों में —

"उग्र अनुभूतिमूलक भाव राशि ही काव्य है जो पाठक—हृदय में एक प्रकार की सजगता भरती है। उसे तन्मय बना देती है। . . . काव्य विचारों की उत्तेजना द्वारा अभिनव रस-सृष्टि में समर्थ होकर जब जीवन की मूर्त असंगति को भुला देता है उसी काव्य को काव्य कहकर पुकारा जा सकता है।"

उदयशंकर भट्ट के निबन्धों से उनके व्यक्तित्व, उनके साहित्य और उनकी जीवन-दृष्टि को समझने में सहायता मिलती है, उनके अनुभव स्रोतों और रचना-यात्रा के साथ आत्मीय संवाद स्थापित होता है। साथ ही उनके युग-सन्दर्भों और संघर्ष में समकालीन प्रवृत्तियों और प्रश्नों से टकराने की ताकत का एहसास होता है। उनके निबन्ध भारतीय मूल्यों और चिन्तन को प्रतिष्ठित करते हैं।

7

उदयशंकर भट्ट का मूल्यांकन

उदयशंकर भट्ट एक ऐसे रचनाकार हैं जिनके विषय में सीधे-सीधे यह कहना अपर्याप्त होगा कि वह किसी खास धारा या विचार से बँधे हैं। वह जिस स्वच्छन्द धारा के कवि हैं और राष्ट्रीय-सांस्कृतिक धारा के साहित्यकार हैं उनका काव्य और व्यक्तित्व उसे भी आगे बढ़ाता है। उनके साहित्य में पूरे पैंतालीस वर्ष का समय प्रतिबिम्बित होता है और उनमें स्वयं भट्ट जी की अपनी आस्थायें—शंकायें भी। उनके साहित्य में अतीत, वर्तमान और भविष्य तीनों की समान चिंता है। उसमें स्वाधीनता-संघर्ष भी है, सामाजिक-राजनैतिक संघर्ष भी, विद्रोह और जन-जागरण भी है और सांस्कृतिक पुनर्जागरण भी। नारी-स्वातन्त्र्य के प्रश्न भी हैं और उससे जुड़े सामाजिक-पारिवारिक पक्ष भी। उनकी रचनाओं का काफी बड़ा फलक है और बहुत बड़ा काल भी है। अतः उनके साहित्य से स्वाधीन चेतना, राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना को समझा जा सकता है।

स्वयं भट्ट जी को यह पसन्द नहीं था कि लोग उन्हें "मानवतावादी", "स्वच्छन्दतावादी", "रोमांसवादी" घेरे में डाल दें — "मानवतावादी होना बुरी बात नहीं है पर मैं केवल मानवतावादी ही हूँ, यह मेरे लिए नयी उपलब्धि है। ("मुझमें जो शेष है" का आत्म विश्लेषण)। अपने बारे में वह इसी "आत्मविश्लेषण" में आगे कहते हैं — "मैं मानता हूँ कोई कवि या लेखक अपने युग की देन होता है। यानी उसके लिखने में युग का प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी है। मुझे उस समय की बात याद है जब 1907 में बंगाल के दो टुकड़े हुए। जीवन में यह पहला अवसर था कि पिताजी के बंगाली मित्रों की आक्रोशपूर्ण चर्चा मैं सुन सका। तभी मेरी छोटी बुद्धि में यह आया कि हम अंग्रेज़ों के दास हैं और वे हमारे शासक। मैं बच्चा तो था ही किन्तु दासता और विवशता की घुटन का प्रभाव मेरे ऊपर भी पड़ा। जब

समझ बढ़ी तो लगा जैसे चारों तरफ से दम घुट रहा है। तत्कालीन हिन्दी कविता में भी उस घुटन का जिक्र था और उद्बोधन का भाव भी पर उद्बोधन घुटन और भय से आक्रान्त था।" निश्चय ही यह घुटन और निराशा उनकी कविताओं में व्यक्त हुई है। लेकिन जैसे-जैसे उनके कवि मन में मनुष्य के प्रति अटूट और अदम्य निष्ठा होती गयी है – "नहि मनुष्याद्धि श्रेष्ठतरं किंचित्"। यह कवि के जीवन का ही मूलमंत्र नहीं बन गया है, उनका व्यक्तित्व और साहित्य भी सारे प्रपंचों- विकारों के बीच मनुष्य के प्रति निष्ठा पर टिकता चला गया है। यह मंत्र निराशा में भी आशा का साथ नहीं छोड़ता। "व्यष्टि की गरिमा से ही समष्टि मंडित होती रही है" – यह वह मानते हैं पर साथ ही जीवन को समग्र रूप में लेना चाहते हैं। मनुष्य के दैन्य, उसके आक्रोश, उत्थान-पतन सबका चित्रण करते हुए भी वह उसकी शक्ति पर विश्वास करते हैं। प्रेम, सौन्दर्य, उदात्त भावना भी उनके काव्य में है और जीवन के विषम पक्ष का सौन्दर्य भी। इसलिए उनके ये शब्द उन्हें और स्पष्ट करते हैं – "मैं मानता हूँ प्रेम जीवन का अमृत है जो मनुष्य मात्र के प्रयत्नों का चरम लक्ष्य है। चाहे वह समाज में हो, चाहे प्रवृत्ति के मौन स्फुरण में। प्रेम के सभी रूपों का वर्णन करके मैंने अपने काव्य की सार्थकता मानी है। . . . एक तरह कहना चाहिए मनुष्य स्वयं सृष्टा का "काव्य" है – "महाकाव्य"। उसके हर्ष-शोक, विलास-प्रेम में काव्य का वास्तविक चमत्कार है। अतः मनुष्य जीवन से ही विराट् काव्य की उत्पत्ति हुई है।" इस प्रकार उदशंकर भट्ट के विचार, उनका काव्य, साहित्यिक मान्यतायें एक उदात्त दृष्टि का परिचय देती हैं। उन्होंने पौराणिक या प्राचीन कथानक लिये तो उनकी रचना भी इसी आधार पर की कि "मैं उसको अपने देश में फिर से पा सकूँ, उससे गौरवान्वित कर सकूँ। आज के राजनैतिक वात्याचक्र से पीड़ित समाज को उस वास्तविकता की एक झाँकी दे सकूँ, वह मेरे देश की धरोहर है। उसकी गरिमा से मुझे और मेरे देश को बल मिल सकता है।" (आत्मविश्लेषण) इन शब्दों में लेखक का दायित्व बोध, राष्ट्र और जीवन के प्रति गहरी संलग्नता महत्वपूर्ण है। भट्ट जी स्वयं अपने साहित्य में उपासना, आराधना, अतीत का गौरव, देश-प्रेम, को आधार मानते हैं। भट्ट जी का काव्य चारों ओर बढ़ती हुई हिंसा, घृणा, भेद भाव, कटुता, क्रूरता और युद्ध प्रवृत्ति के इस युग में दया, करुणा, आनन्द, अर्थात् भारतीय जीवन से प्राप्त परम्परा और भावनाओं में जीवन जगत् का कल्याण देखता है।

उदयशंकर भट्ट काव्य के माध्यम से युग विषमताओं और जीवन संघर्ष की, यथार्थ की अभिव्यक्ति उतनी नहीं कर पाये जितनी नाटक के माध्यम से कर सके। उन्होंने सांस्कृतिक चेतना की नाट्यधारा को बहुत सशक्त किया। यह

दूसरी बात है कि हिन्दी में रंगमंच का अस्तित्व न होने के कारण उनके नाटकों और रंगमंच का वह रिश्ता नहीं बन सका बल्कि उल्टे उनके नाटक एकांकी, केवल पाठ्यक्रम तक सीमित रह गए और समीक्षा में वे मात्र पाठ्यक्रमीय, अरंगमंचीय, साहित्यिक बनकर रह गए। जबकि रंगमंच के प्रति उनकी दृष्टि बहुत स्पष्ट, सर्जनात्मक, गंभीर थी और भारतीय परम्परा से भी जुड़ी थी। बाहरी उपकरणों की जगह वह सादगी, अभिनेता-प्रधान मंच के ही, भरतमुनि के "अनुमानाश्रित" मंच के ही पक्षधर थे। उन्हीं के शब्दों में – "नाटक की सफलता इसमें है कि पात्रों के साथ उसका (दर्शक का) तादात्म्य हो जाये। दर्शक और दृश्य में भेद न रहे। तल्लीनता नाटक की सफलता की कसौटी होनी चाहिए। नाटक और रंगमंच दोनों की दिखावट और अन्विति को "शो" से दूर रखा जाये तथा नाटक में व्यंग्य की तीक्ष्णता को प्रधानता दी जाये। वस्तु में जीवन हो और उसकी समस्यायें। जीवन में मनुष्यत्व को उभारना ही आज के साहित्य का ध्येय होना चाहिए।" (साहित्य के स्वर, "नाटक के प्रति मेरा दृष्टिकोण, पृ.81) उनके विचार, उनका चिंतन (नाट्य, नाट्यकार और रंगमंच निबन्ध में भी व्यक्त हुआ है जो आज की परिस्थितियों में भी ताजगी भरा है और साहित्यिक और कलात्मक दिशाओं में हमारी चुनौतियों की ओर संकेत करता है। भट्ट जी की बहुत बड़ी देन अपने नाटकों द्वारा उस युग चेतना, अनुभूति और स्फूर्ति तक पूर्ण सजीवता के साथ ले जाना है।

उस समय गहरी, अखंड, आन्तरिक एकता की आवश्यकता अनुभव की जा रही थी, भारतवर्ष जैसे विशाल देश में और अनेक जातियों, धर्मों, राज्यों, प्रान्तों और भाषाओं-बोलियों में बँटे हुये देश में उस समय देश की आजादी का प्रश्न ऐसा था जिसनें धर्मों, जातियों, सम्प्रदायों वर्गों के भेदभाव को बिल्कुल भुला दिया था। सभी राष्ट्रीय धरातल पर समानता के भाव से, अनेकता में एकता की अनुभूति और संकल्प से सक्रिय थे – महात्मा गाँधी सम्पूर्ण आन्दोलन का नेतृत्व कर रहे थे और स्वतन्त्रता संग्राम के साथ नारी-मुक्ति का संघर्ष भी छिड़ रहा था। जीवन के इस सत्य और संघर्ष को, इस आदर्श को साहित्यकार अपनी रचनाओं के माध्यम से प्रस्तुत कर रहा था। साहित्य की अन्य सभी विधाओं की तुलना में हिन्दी में इस समय नाटक विधा सबसे सशक्त विधा थी, सांस्कृतिक पुनर्जागरण की चेतना प्रसाद अपने नाटकों से आरम्भ कर चुके थे। उन्होंने इतिहास के माध्यम से सांस्कृतिक जागरण का लक्ष्य पूरा किया। हिन्दी नाटक मुख्यतः पौराणिक और ऐतिहासिक कथानकों द्वारा सांस्कृतिक चेतना की स्फूर्ति भरता रहा है। उनके पात्र, पात्रों का व्यक्तित्व, संघर्ष-चेतना, राष्ट्रीय चेतना और नारी पात्रों की सर्जना उस उद्देश्य से युक्त रही है – यहाँ तक कि भाषा के स्वरूप से भी उस दृष्टि को प्रस्तुत किया है।

वस्तुतः इस समय नाट्यविधा में सांस्कृतिक विषयवस्तु और भारतीयता एवं आधुनिक चेतना के पात्र, उनका व्यक्तित्व इतना प्रमुख होता गया कि उसे एक पृथक् धारा का ही नाम मिल गया — सांस्कृतिक नाट्यधारा उस युग की आवश्यकता थी। नाटककार सेठ गोविन्ददास, हरिकृष्ण प्रेमी, लक्ष्मी नारायण मिश्र के साथ-साथ उदयशंकर भट्ट इस नाट्यधारा के अग्रणी लेखक थे। इन सभी नाटककारों ने राष्ट्रीय जीवन को एक सूत्र में बाँधने के लिए, विभक्त-परतन्त्र राष्ट्र को एक्य भाव से जागृत करने के लिए ऐतिहासिक पौराणिक नाट्यरचनायें कीं। बंगला में यही रचनात्मक कार्य द्विजेन्द्र लाल राय ने किया। द्विजेन्द्र लाल राय मध्य कालीन इतिहास के द्वारा भारतीय संस्कृति के आदर्श नाटकों में प्रस्तुत कर रहे थे और द्वेष एवं मानवीय प्रेम, देशानुराग के बीच के निरन्तर चलने वाले द्वन्द्व और उससे उत्पन्न भीषण संघर्ष को भी व्यक्त कर रहे थे। इस प्रकार की रचनाओं के पीछे उनका उद्देश्य भी एक्य भावना को देश की अखंडता के लक्ष्य को और मानव प्रेम को प्रतिष्ठित करना था — जैसा कि द्विजेन्द्र लाल राय के नाटक "मेवाड़ पतन" में देखा जा सकता है। यही विशिष्ट और महत्त्पूर्ण नाट्यचेतना हिन्दी में उदयशंकर भट्ट बड़े पैमाने पर कर रहे थे। यह उल्लेखनीय है कि इस सांस्कृतिक नाट्यधारा के सभी नाटककारों में भारतीय संस्कृति के भीतर निहित "समरसता की संस्कृति" की प्रस्तुति है और वही राष्ट्रीय चेतना के मूल में है।

साहित्यकार यह समझ रहे थे कि उनका दायित्व हिन्दू मुस्लिम एकता भाव को विकसित करना है न कि अलगाव और भेदभाव को । उदयशंकर भट्ट तथा उनके अन्य समकालीन नाटककारों ने यह समझा कि ऐतिहासिक नाटक आज की आवश्यकता है। इन सभी नाटककारों ने राष्ट्रीय एकता को सांस्कृतिक एकता से जोड़ा ही नहीं बल्कि इस सत्य को बराबर चरितार्थ किया कि सांस्कृतिक एकता तभी सम्भव है जब हिन्दू-मुस्लिम, तथा सभी धर्म और वर्ग के लोग समग्र मानवीय दृष्टि के साथ कट्टरता छोड़कर उदारता के धरातल पर अपनी मानसिक निर्मिति करें। हरिकृष्ण प्रेमी का "आहुति", "रक्षाबन्धन" नाटक इस दृष्टि से, भावात्मक आदर्शों को प्रतिष्ठित करना ही था और वे "सांस्कृतिक दूत" बनकर नाटकों में उपस्थित थे। सेठ गोविन्द दास के "शेरशाह", "कुलीनता" आदि नाटकों ने और लक्ष्मी नारायण मिश्र के "गरुड़ध्वज" "वत्सराज" एवं वृन्दावनलाल वर्मा के "पूर्व की ओर", "हंसमयूर" ने सांस्कृतिक नाटकों का आदर्श रूप प्रस्तुत किया था। "शेरशाह" में स्वयं शेरशाह का चरित्र हिन्दू-मुस्लिम एकता, मुसलमानों की राष्ट्रीय चेतना का विलक्षण उदाहरण है जो आज के विद्वेष, हिंसा-युग, सांप्रदायिक विचारों में बहुत मूल्यवान है। गाँधीवाद, गाँधी जी के व्यक्तित्व के प्रभाव से सेठ गोविन्ददास "कुलीनता" नाटक में मनुष्य को धर्म,

वर्ग, जाति और वर्ण के आधार पर नहीं आँकते, कर्म से मनुष्य की श्रेष्ठता आँकते हैं और उसे कर्मयोगी मानकर राष्ट्रोद्धार के लिए एक दृष्टि देते हैं – यहाँ कुलीनता की समस्या को भी राष्ट्रीय एकता की समस्या से जोड़ दिया है। इस प्रकार की सांस्कृतिक एकता और राष्ट्रीय एकता उदयशंकर भट्ट के नाटकों में भी मिलती है।

इस काल में उदयशंकर भट्ट के नाटकों में अतीत के गौरव-गान के साथ-साथ राष्ट्रीय आन्दोलन को जोड़ा हुआ देखते ही हैं – पात्रों को उनका व्यक्तित्व, उनकी निजी वैयक्तिकता देते हुआ भी देखते हैं। उनमें प्रेरणा, उत्साह, शक्ति, रूढ़िबद्ध नैतिकता पर प्रहार और भावात्मक प्रवाह है।

उदयशंकर भट्ट ने हिन्दी को श्रेष्ठ काव्यनाटक दिये। उनमें "अंधा युग" जैसा कालजयी काव्य नाटक भले ही न हो पर उस प्रकार की आधुनिक विडम्बना, द्वन्द्व के जटिल स्तर, भाषा में ध्वनि, लय, नाट्य का विलक्षण समन्वय चारित्रिक जटिलतायें अवश्य हैं। "गुरू द्रोण का अन्तर्निरीक्षण", "अश्वत्थामा", विद्रोहिणी अंबा" एक बार पुनः मूल्यांकन, काव्यपाठ, नाट्यपाठ और मंचन की मांग करते हैं। भावनाट्य की कोई संस्कृति या वातावरण हमारे यहाँ विकसित नहीं हुआ अन्यथा "विश्वामित्र और दो भावनाट्य" में "मत्स्यगंधा" विशेष रूप से अपनी संवेदना, नारी चेतना, यौवन और सौन्दर्य के अबूझ सवालों के कारण उतनी ही महत्वपूर्ण है जितनी "उर्वशी" (दिनकर) निश्चय ही भट्ट जी हिन्दी के प्रथम और महत्वपूर्ण गीतिनाट्यकार हैं। हिन्दी में गीतिनाट्य की परम्परा, इतिहास और स्वरूप ही उन्हीं से शुरू होता है। भगवतीचरण वर्मा के गीतिनाट्यों से उनके गीतिनाट्य अधिक सर्जनात्मक हैं। रंगमंच नहीं था अन्यथा साहित्य और रंगमंच के इतिहास में उनके गीतिनाट्यों का स्थान कुछ और रहा होता। भट्ट जी का व्यक्तित्व और साहित्य सीमाओं में नहीं बँधा है। प्राचीनता के प्रति अनुराग, नवीन के प्रति आकर्षण का अद्भुत संयोग उनमें है। इससे उत्पन्न द्विधावृत्ति भी उनकी रचनाओं में व्यक्त होती दीखती है। निश्चय ही मन से वे आदर्शवादी, भावुक और संस्कृति और परम्पराओं के प्रति निष्ठावान हैं पर बुद्धि से यथार्थ दृष्टा, जीवन और समाज के विश्लेषक हैं। अपने बाह्य जीवन और अन्तर्मन में जो कुछ उन्होंने देखा-अनुभव किया है, उसे ही व्यक्त किया है। अपनी पुरानी रचनाओं में वह "ऐतिहासिक-पौराणिक कथानकों के आधार पर राष्ट्र के पतन के कारण तलाशते हैं और आगे चलकर वे आज के जीवन की कूरूपता, कटुता, विकारग्रस्त मनःस्थिति, भटकन, उलझाव, विरोध, विद्रोह को उद्घाटित करने में संलग्न दीखते हैं। उनकी सुन्दर रचनायें वे हैं जिनमें वह समाज में चारों ओर आधुनिकता को आरोपित-कृत्रिम ढंग से लेने के कारण

उससे उत्पन्न उलझनों, द्वन्द्व की जटिलताओं को व्यक्त करते हैं। उनके कई एकांकी, रेडियो नाटक और सामाजिक नाटक, उनके उपन्यास इसका प्रमाण हैं। कविताओं में यह बात बहुत स्थूल ढंग से आयी है पर "सागर, लहरें और मनुष्य", "डॉ. शेफाली", "लोक परलोक" उपन्यासों और "कमला", "नया समाज" नाटकों में, एकांकियों में यह बात बहुत विश्वसनीय और प्रामाणिक ढंग से, सूक्ष्म रचनात्मक सौन्दर्य के साथ आयी है। भारतेन्दु-परम्परा से चला आता व्यंग्य-विनोद भी भट्ट जी की मौलिकता है। मनोरंजन का विरोध करते हुए भी उनकी सामाजिक समस्याओं पर केन्द्रित रचनाओं में व्यंग्य की तीक्ष्णता एक अलग वैशिष्ट्य देती है। व्यंग्य-विनोद उनका रचना-कौशल, उनकी प्रतिभा है — संभवतः एकांकी विधा और रेडियो नाटक के कारण।

उदयशंकर भट्ट ने अपने साहित्य द्वारा भाषा और शिल्प के कई नये प्रयोग दिये और उन प्रयोगों में भी भारतीय परम्पराओं का बराबर ध्यान रखा। आदर्शवाद, यथार्थवाद, मनोविज्ञान, मनोविश्लेषण, प्रतीकात्मकता, आंचलिकता, नागरीय जीवन-ग्रामीण जीवन, आधुनिकता-कट्टरता। सबके इतने रंग उनके साहित्य में हैं कि उन्हें पढ़कर उनकी युगचेतना को, प्रवृतियों-आंदोलनों व उनके प्रति उदयशंकर भट्ट की प्रतिक्रियाओं को समझा जा सकता है। भट्ट जी ने अंबा, कमला, मत्स्यगंधा, रत्ना, डॉ. शेफाली जैसे पात्र दिये हैं। जिनमें विद्रोह भी है, रूढ़ि-मुक्ति और अस्तित्व की खोज भी है, चिरंतन प्रश्न भी, जीवन का शाश्वत सत्य भी है। अपनी कविताओं में रावण, कैकेयी, वैदेही, राम पात्रों को लेकर उन्होंने उनके भीतर से जो नयी, आधुनिक मानवीय संवेदना खोजी है—चित्रित की है, वह जीवन-संघर्ष की जटिलता का सघन सौंदर्य भी लिये हैं और लम्बी कविता के विधान की संभावनायें भी। अन्तर्भाव की ये रचनायें फिर से पढ़ी जाने योग्य हैं। लय, ध्वनि, नाट्य का संगम लेखक की क्षमता को उजागर करता है। यह रचना प्रचलित काव्य पद्धति में भी मुक्ति की जीवन्तता लिये हुए है। चार पात्रों के चुने हुए विशेष क्षण कालातीत हो जाते हैं।

उनकी कई रचनायें अपने में एक शोध भी हैं। "आदिम युग" के एकांकी उन्हें आदिम युग के अनुसंधाता के रूप में प्रस्तुत करते हैं। "कौन्तेय कथा" को लेकर उन्होंने स्वयं लिखा है — "शिव संस्कृति" वस्तुतः उस समय मानवता, एकता, ऊँच-नीच के भाव से रहित एक विश्वास था। जिसने उस समय सम्पूर्ण देश में शान्ति, मर्यादा की स्थापना की। प्रस्तुत काव्य में मैंने शिव तथा अर्जुन की कथा द्वारा उस संस्कृति का चित्रण करने का प्रयास किया है। (निवेदन, कौन्तेय कथा) भारवि के "किरातर्जुनीय" को नवीन दृष्टि से लिखने का प्रयास इस रचना में है। उनका "कालिदास का युग" निबन्ध भी ऐतिहासिकता और

सर्जनात्मकता का समन्वित सौन्दर्य लिये हुए है। भट्ट जी का अध्ययन-चिंतन-सृजन उसमें मुखरित होता है। उपन्यास के विकास के प्रति भी भट्ट जी वैसे तो आश्वस्त थे पर उन्हें यह भी लगता था कि अभी हमारे उपन्यासों में सारा देश नहीं बोला। वह यह कहते हैं कि यद्यपि हमारे उपन्यास-साहित्य में काफी मोड़ आये हैं किन्तु "उनमें से बहुत से उपन्यासों का चित्रण हमारे लिए अस्वाभाविक हैं या हमें पूरी तरह "सूट" नहीं करता।" (उपन्यास साहित्य, साहित्य के स्वर, पृ. 116) वह यह भी कामना करते हैं कि देश का प्रत्येक वर्ग, प्रत्येक जाति, प्रत्येक समाज अपने को साहित्य में पा सके। मानवीय मूल्यों और जीवन एवं समाज को मनुष्यत्व का व्यापक आधार देने के कारण, उदयशंकर भट्ट का व्यक्तित्व और साहित्य चिरस्थायी रहेगा। उनका साहित्य आज भी अतीत और वर्तमान पर पुनर्विचार करने को प्रेरित करता है और आने वाले समय के लिये सजग होने को तैयार करता है।

8

परिशिष्ट

उदयशंकर भट्ट की रचनायें

काव्य

तक्षशिला
राका
मानसी
विसर्जन
अमृत और विष
इत्यादि
युगदीप
यथार्थ और कल्पना
विजयपथ (बाद में "कौन्तेय कथा" के नाम से प्रकाशित)
अन्तर्दर्शन : तीन चित्र (बाद में "अन्तर्मन्थन" नाम से प्रकाशित)
कणिका
पूर्वापर
(युगदीप और यथार्थ और कल्पना का संग्रह)
मुझमें जो शेष है

नाट्य–साहित्य

विक्रमादित्य
दाहर
सगर विजय
कमला
अन्तहीन अन्त
मुक्तिपथ
शकविजय
नया समाज
पार्वती
विद्रोहिणी अम्बा
विश्वामित्र
मत्स्यगंधा
राधा
अशोक-वन-बन्दिनी
विक्रमोर्वशीय
अश्वत्थामा
गुरु द्रोण का अन्तर्निरीक्षण
नहुप निपात
कालिदास
संत तुलसीदास
एकला चलो रे
क्रान्तिकारी
अभिनव एकांकी नाटक
स्त्री का हृदय
आदिम युग
तीन नाटक
धूमशिखा
पर्दे के पीछे
अंधकार और प्रकाश
समस्या का अन्त
आज का आदमी

उपन्यास

वह जो मैंने देखा
(नया नाम "एक नीड़ दो पंछी")
नये मोड़
(नया नाम "डॉ. शेफाली")
सागर, लहरें और मनुष्य
लोक परलोक
शेष अशेष

निबन्ध

साहित्य के स्वर

उदयशंकर भट्ट का जन्म 1898 ई० में इटावा में अपने ननिहाल में हुआ। उनके पिता पं० मेहता फतेहशंकर भट्ट अंग्रेज़ी और संस्कृत के विद्वान थे अतः भट्ट जी की शिक्षा-दीक्षा वेदमंत्रों के अध्ययन के साथ हुई। भट्ट जी की बचपन से ही कवि बनने की अदम्य आकुलता 'मेरी पहली कविता' के नाम से कलकत्ता के साहित्यांक 'नया समाज' में व्यक्त हुई है। 1917 ई० में उनका एक लेख 'साख्यदर्शन के कर्ता', 'सरस्वती' पत्रिका में छपा। फिर 'मर्यादा', 'प्रताप', 'श्रीशारदा' आदि पत्र-पत्रिकाओं में कवितायें निकलना शुरू हुई। 1921-22 ई० में लाहौर में अध्यापन कार्य के साथ उनका अधिकतर साहित्य रचा गया— विशेषकर नाटक-लेखन की ओर प्रवृत्ति वहीं विकसित हुई। स्वभाव से तेज भट्ट जी राजनीति में भी सक्रिय रहे।

छायावाद की स्वछन्द धारा के रचनाकार उदयशंकर भट्ट के साहित्य में मनुष्यत्व के प्रति आस्था है। 1920-66 ई० तक उनके काव्य में छायावाद और छायावादोत्तर काल का बदलता हुआ परिदृश्य मिलता है। मूलतः कवि, नाटककार भट्ट जी के नाटक राष्ट्रीय-सांस्कृतिक धारा से जुड़े हैं। हिन्दी के वह प्रथम गीति नाटककार और प्रथम दुखान्त नाटककार हैं। उनके गीतिनाटय 'मत्स्यगंधा' ने उनके मौलिकता को स्थापित किया। 'गुरु द्रोण का अन्तनिरीक्षण' और 'अश्वत्थामा' में चरित्र और नाटयशिल्प का सामंजस्य मिलता है।

उदयशंकर भट्ट के रेडियो नाटक और एकांकी सामाजिक चेतना और प्रयोगों को सामने लाते है। उनके उपन्यासों में 'सागर, लहरें और मनुष्य' (1955 ई०) ने आंचलिकता के संदर्भ में उन्हें ख्याति दिलाई। उनके निबन्धों में साहित्य और अतीत, वर्तमान, भविष्य की चिंतायें व्यक्त हुई हैं। उदयशंकर भट्ट का निधन 1966 ई० में हुआ।

प्रस्तुत विनिबंध की लेखिका **गिरीश रस्तोगी** हिन्दी की प्रसिद्ध समीक्षक, रंगकर्मी और नाटककार हैं। उन्होंने उदयशंकर भट्ट के व्यक्तित्व और कृतित्व पर गंभीर विचार किया है।

ISBN 81-260-430-4

पच्चीस रुपये